॥ श्री महावीराय नमः ॥

ज्ञान का विद्या-सागर

भेंटकर्ता

श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी लाला नेमचन्द जैन
पुराना गंज, सिकन्दराबाद
बुलन्दशहर (उ० प्र०)

वीर निर्माण सम्वत् २५०८
सन् १९८३]

[मूल्य : सदुपयोग

श्रीमती रमा जैन धर्मपत्नी लाला नेमचन्द जैन
सिकन्दराबाद, बुलन्दशहर (उ० प्र०)

भूमिका

उत्तर प्रदेश के जनपद बुलन्दशहर में स्थित नगर सिकन्दराबाद का परम सौभाग्य है कि जिस जनपद में अभी तक किसी मुनिराज का चतुर्मास नहीं हुआ था, वहां इस वर्ष वीर सं० २५०८ में श्री १०८ आचार्य नेमिसागर जी महाराज एवं श्री १०८ दयासागर जी महाराज वर्षायोग में विराजमान् है। उनका चतुर्मास आनन्दपूर्वक एवं उल्लास के साथ सम्पन्न हो रहा है। चहुं ओर धर्म प्रभावना है। मृदु-भाषी एवं तपस्वी आचार्य नेमिसागर जी महाराज के विनम्र स्वभाव एवं त्याग से जैन ही नहीं अपितु अन्य धर्मावलम्बी भी भाव-विभोर हैं। श्री १०८ दयासागर जी महाराज का बच्चों के प्रति स्नेह उनमें धर्म के प्रति रुचि जाग्रत करना तथा उन्हें प्रतिदिन अविरल २ घण्टे तक भक्ताम्बर स्तोत्र तत्वार्थ सूत्र का कण्ठस्थ कराना उनके भावार्थ को समझाना आदि कार्य उनके स्नेह, रुचि तथा सरलता के द्योतक हैं।

वर्षायोग की अवधि में इस छोटी-सी नगरी में आचार्य श्री नेमिसागर जी महाराज एवं श्री दयासागर जी महाराज के सानिद्धय में आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित एवं अनुवादित अनेक ग्रन्थों का पठन-पाठन हुआ। इनसे प्रभावित होकर समाज के अनेक धर्म प्रेमियों के हृदय में उनके ग्रन्थों का संकलन कर खण्डों के रूप में छपवाने की भावना जाग्रत हुई। धर्म प्रभावना से प्रेरित होकर एवं आचार्य श्री का आशीर्वाद प्राप्त कर श्रीमती रमा जैन धर्मपत्नी श्री नेमचन्द जैन सिकन्दराबाद ने प्रथम खण्ड को प्रकाशित कराने के विचार को साकार रूप प्रदान किया।

प्रस्तुत खण्ड में सर्वप्रथम देव, शास्त्र तथा गुरु की स्तुति की गई है, तदोपरान्त आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित/अनुवादित श्रवण शतक, भावना शतक, ज्ञानोदय, रयन मंजूषा, निजामृतपान, गुणोदय, समन्तभद्र की भद्रता, द्रव्य-संग्रह तथा जैन गीता का संकलन है।

विनीत :
जितेन्द्र कुमार जैन
प्राचार्य :
जैन इण्टर कालिज
सिकन्दराबाद, (बुलन्दशहर)

युवा मुनि १०८ श्री दयासागर जी महाराज का संक्षिप्त परिचय

आपका जन्म बंडाबेलई के नाम से प्रसिद्ध नगर जिला सागर (म० प्र०) के श्रीमन्त कुल में श्री दशरथ लाल जी जैन एवं मातेश्वरी शान्तिबाई के यहां १३ मार्च, १९५४ को हुआ था। आपके बाल्यकाल का नाम दीपू (देवेन्द्र कुमार) था। बाल्यकाल से ही धर्म के प्रति आपका विशेष प्रेम था और आप गृहस्थ में रहकर श्रवण के कर्त्तव्यों का पालन कर रहे थे। युवावस्था में ही आप जीवन से उदासीन हो गए, आप आचार्य १०८ श्री विद्यासागर जी महाराज के तप एवं ज्ञान से अत्यधिक प्रभावित हुए और गृहस्थ में रहकर १६ नवम्बर, १९७७ में आचार्य श्री विद्यासागर जी से सिद्ध क्षेत्र कुण्डलपुर में ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। २८ जुलाई, १९७८ को आपने गृह-त्याग कर १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज के संघ में प्रवेश किया तथा १० जनवरी, १९८० को सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि में आचार्य श्री विद्यासागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की।

आप उत्तरोत्तर मुनि दीक्षा ग्रहण करने के मार्ग पर चलते रहे। आपने आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण करने को अनेक बार इच्छा प्रकट की परन्तु महाराज श्री ने अभी नहीं कहकर टाल दिया। आप कुछ समय पश्चात् महाराज श्री का संघ छोड़कर दिल्ली आ गए। यहां आपने १०८ श्री नेमिसागर जी महाराज से मुनि दीक्षा ग्रहण करने का भाव प्रकट किया। श्री नेमिसागर जी महाराज ने अपने गुरु आचार्य श्री जयसागर जी महाराज से निर्देश प्राप्त कर अनेक झूठे एवं मिथ्या आरोप होने पर भी आपको २७ जनवरी, १९८२ को दिल्ली में एलक दीक्षा प्रदान की तथा दयासागर जी नाम रखा।

आप मुनि धर्म अंगीकार करने हेतु दृढ़ प्रतिज्ञ थे। आपने आचार्य श्री नेमिसागर जी महाराज से आरोपों की जांच कराने हेतु निवेदन किया। आपके विरुद्ध लगाये गए सभी आरोप मिथ्या एवं असत्य पाए गए। अतः आचार्य महाराज ने आपके तप, ज्ञान एवं चरित्र को उत्तम परखकर आपको ११ अप्रैल, १९८२ को मुनि दीक्षा प्रदान की। आप अपने उत्तम तप, त्याग, ज्ञान, चरित्र एवं सरल स्वभाव के समाज सुधारक तथा धर्म लाभ प्रदान कर रहे हैं।

॥ इति ॥
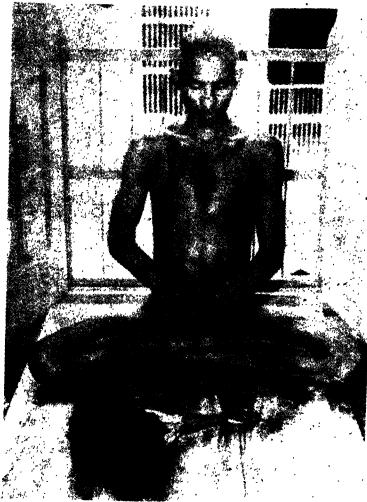
युवा मुनि १०८ श्री दयासागर जी महाराज

जन्म	१९५४	बंडावेलई (सागर)
क्षुल्लक दीक्षा	१९८०	नैनागिरि (सिद्ध क्षेत्र)
मुनि दीक्षा	१९८२	शालीमार बाग (दिल्ली)

श्री १०८ आचार्य नेमिसागर जी महाराज का संक्षिप्त परिचय

आपका जन्म वर्तमान प्रदेश हरियाणा के ग्राम अकेड़ा जिला गुड़गांव में सन् १९०७ में हुआ था। दो माह की अल्पायु में ही आपके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया था। तीन वर्ष की आयु में आप दिल्ली के जौहरी लाला रणजीत सिंह जी जैन के यहां दत्तक पुत्र आए। कुछ समय पश्चात् ही दिल्ली में आपके पितामह के यहां मकान में भयंकर आग लग गई तथा दुकान में चोरी हो गई फलस्वरूप समस्त सम्पदा नष्ट हो गई। आपको संसार मिथ्या जान पड़ने लगा तथा धर्म में रुचि हो गई। आपके जीवन पर आपके पितामह की अमिट छाप है। जो एक धर्मनेष्ट एवं सच्चे देव के उपासक थे परन्तु समय बलवान है कि आप युवावस्था में प्रवेश भी न कर पाए थे कि आपके पिता का स्वर्गवास हो गया और आप इस असार संसार में अकेले रह गए।

आप सच्चे स्वतन्त्रता सैनानी भी रहे हैं। गांधी जी के सत्याग्रह आन्दोलन में आप ११ माह तक लाहौर जेल में भी रहे हैं। जेल में भी आप अपने धर्म एवं क्रियाओं पर अडिग रहे हैं। आपने जेल की रोटियां खाने से मनाकर दिया तथा उपवास पर रहे जिसके फलस्वरूप जेल में शुद्ध भोजन की व्यवस्था करायी गई। जेल से आने पर आपकी रुचि धर्म में बढ़ती चलो गई तथा अपनी बुआ जी श्रीमती रिखीबाई के स्वर्गवास होने पर आपको संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया।

सन् १९४० ई० में चमत्कार जी जिला सवाई माधोपुर में श्री १०५ एलक चन्द्रकीर्ति महाराज से ब्रह्मचारी दीक्षा ग्रहण की। वर्ष १९४४ में अतिशय क्षेत्र चांदखेड़ी, जिला औरंगाबाद में मुनि १०८ श्री सुमतिसागर जी से क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की तथा आपने सन् १९५६ में कार्तिकी सुदी पूर्णिमा को आचार्य श्री १०८ जयसागर जी महाराज से गुजरात प्रदेश में टाकाटीका में मुनि दीक्षा ग्रहण की। आप लगभग भारत के समस्त जैन तीर्थों की वन्दना कर चुके हैं आपके ऊपर अनेक उपसर्ग आए परन्तु आपने अपने तप तथा ज्ञान-ध्यान से सभी उपसर्गों का निवारण किया। इस वर्ष १९८२ में आपका ४३वां वर्षायोग सिकन्दराबाद, जिला बुलन्दशहर में हुआ है। आपके समागम से जैन ही नहीं अपितु अजैनों पर भी आपके मृदुल स्वभाव, निर्मल चरित्र एवं धर्म साधना का प्रभाव पड़ा है। जैन समाज सिकन्दराबाद आपका सदैव ऋणी रहेगा।

॥ इति ॥

आचार्य श्री १०८ मुनि नेमिसागर जी महाराज

जन्म	१६०७	अकेड़ा (गुड़गांव)
क्षुल्लक दीक्षा	१६४४	चांदखेड़ी (औरंगाबाद)
मुनि दीक्षा	१६५६	टाकाटीका (गुजरात)

रचयिता का जीवन परिचय

'ज्ञान का विद्या-सागर' प्रथम खण्ड के रूप में स्वनाम धन्य परम पूज्यवर श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी महाराज द्वारा रचित/अनुवादित ग्रन्थों का संकलन है। आचार्य महाराज का विद्या-सागर नाम अन्वर्थ नाम है। आपके हृदय में न्याय, व्याकरण, साहित्य आगम तथा अध्यात्म आदि अनेक विद्याओं का सागर लहरा रहा है। मातृभाषा कन्नड़, मराठी, हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा प्राकृत भाषा का अगाध वैदुष्य आपको प्राप्त है। सुदूरवर्ती कर्नाटक प्रान्त के मूल निवासी होने पर भी आप हिन्दी का इतना अविरल और स्पष्ट प्रवचन करते हैं कि कोई नवागान्तुक श्रोता यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि आपकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है।

आचार्य विद्यासागर जी का जन्म विक्रम संवत् २००३ आश्विन शुक्ल पूर्णिमा के दिन सदलगा (जिला बेलगांव) कर्नाटक में हुआ। आपके पिताजी का नाम मल्लप्पा जी (आचार्य धर्मसागर जी के संघस्थ मुनिराज मल्लिसागर जी) है और माता का नाम श्रीमती जी (आचार्य धर्मसागर जी की संघस्थ आर्यिका समयमती जी) हैं। इनका बाल्यावस्था का नाम विद्याधर जी था। इनके तीन भाई थे जिनमें से दो मुनि दीक्षा लेकर आचार्य महाराज के साथ ही ज्ञान ध्यान में लीन हैं तथा दो बहनें थीं जो आचार्य धर्मसागर जी महाराज के संघ में आर्यिका की दीक्षा लेकर आत्म-साधना कर रही हैं। कैसे पूर्वभव के संस्कारी जीव हैं कि जिनका पूरा-का-पूरा परिवार ग्रह-त्यागकर आत्म-कल्याण में निरत है। मात्र एक भाई महावीर प्रसाद उदासीन भाव से गृहस्थी का संचालन कर रहा है।

बालक विद्याधर की प्रतिभा जन्म से ही कुशाग्र थी। बाल्यकाल में ही तत्वार्थ सूत्र मकाम्बर स्तोत्र बृहद् सहस्रनामआपको कंठस्थ थे। केवल ६ वर्ष की अवस्था में प्रातः स्मरणीय आचार्य शान्तिसागर जी महाराज का उपदेश श्रवण कर अपने आपको धन्य माना आपका शरीर गौरवर्ण तथा सौम्यमुद्रा से युक्त है अल्प वय में ही इनकी ज्ञान ज्योति प्रफुरित हो गई थी, हृदय की प्रेरणा से प्रेरित हो बालक विद्याधर ग्रह-त्याग कर जयपुर की ओर चल पड़ा और उस समय खानिया की नसिया में विद्यमान आचार्य देशभूषण जी महाराज से आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत लेकर परम प्रसन्नता का अनुभव करने लगा। ब्रह्मचर्य व्रत लेकर बालक विद्याधर आचार्य ज्ञानसागर जी के सम्पर्क में आया। आचार्य महाराज ने उसकी अर्न्तात्मा को परखा और उसे सब प्रकार से योग्य मानकर ११ माह तक विद्याध्ययन कराया। अजमेर के चातुर्मास में आषाढ़ शुक्ल पंचमी विक्रमी संवत् २०२५ (३० जून, १९६८) को आचार्य

ज्ञानसागर जी ने ब्रह्मचारी विद्याधर जी को दिगम्बरी दीक्षा प्रदान की विद्या तथा दीक्षा गुरु के साथ रहकर मुनि विद्यासागर जी ने जैनागम के अगाध सागर में अवगाहन किया। उनके ज्ञान की गरिमा सर्वत्र फैलने लगी अपकी वृद्धावस्था का विचार कर आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने अपने सुयोग्य शिष्य मुनि विद्यासागर जी को नसीराबाद (राजस्थान) में २१-११-१९७२ के दिन आचार्य पद से विभूषित किया। आचार्य विद्यासागर ने अपने गुरु की सेवा जितनी तत्परता और तन्मयता से की थी वह उस समय के दर्शकों के नेत्रों को आज भी सजल कर देती है।

आपका सतत ज्ञानाभ्यास चलता है एक क्षण भी आप व्यर्थ के विसंवाद में व्यतीत नहीं करते हैं आप कुशल कवि हैं कविता के माध्यम से आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा आपने अनेक संस्कृत तथा प्राकृत के ग्रन्थों का हिन्दी कविता के रूप में अनुवाद किया है। आपके द्वारा रचित एवं अनुवादित ग्रन्थ निम्न हैं—

मौलिक रचनायें	अनुवादित रचनायें
१. श्रमण शतकम्	१. योगसार
२. निजानुभव शतक	२. इष्टोपदेश
३. निरंजन शतकम्	३. समाधि तन्त्र
४. भावना शतकम्	४. एकीभाव स्तोत्र
५. शारदा स्तुतिरियम्	५. कल्याण मन्दिर स्तोत्र
६. ज्ञानोदय	६. जैन गीता (समणसुत्तं का पद्यानुवाद)
७. प्रवचन पारिजात (गद्य रूप)	७. कुन्दकुन्द का कुन्दन (समयसार पद्य)
८. नर्मदा का परम कंकर	८. निजामृतपान (समयसार कलश)
९. डूबो मत (लगाओ डुबकी प्रेम में)	९. गोमटेश अष्टक (प्राकृत गोमटेश थुई)
	१०. समन्तभद्र की भद्रता (स्वयंभू स्तोत्र)
	११. द्रव्य संग्रह।

आपकी सौम्य मुद्रा, प्रतिभा, त्याग एवं तपस्या के सम्मुख स्वयं ही श्रद्धा से चरणों में मस्तक झुक जाता है। आप दीक्षा के समय से ही पांच रसों के त्यागी हैं, आपको गरिष्ट भोजन का त्याग है। मात्र दूध लेते हैं। यदि किसी गृहस्थ के चौका में दूध भी उपलब्ध नहीं है तो भी प्रसन्नता से आहार ग्रहण करते हैं। आप अपनी तथा शिष्यों की दिनचर्या पर कड़ी दृष्टि रखते हैं। शीतकाल में भी एक चटाई के अतिरिक्त घास का उपयोग भी नहीं करते। पूज्य महाराज के पुण्य परमाणुओं का आकर्षण इतना प्रबल है कि जहां कहीं भी आपका चतुर्मास होता है चौका लगाने वाले भक्तों एवं श्रोताओं का सागर उमड़ पड़ता है। पूज्य महाराज जी जब वसन्ततिलका छन्द में रचित कविताओं को अपनी प्राकृति प्रदत्त सुरलहरी के साथ पढ़ते हैं तब श्रोतागण भाव-विभोर एवं मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं।

इन्हीं परम तपस्वी आचार्य विद्यासागर जी की दिव्य लेखनी से प्रसूत कविताओं का संग्रह 'ज्ञान का विद्या-सागर' प्रथम खण्ड के रूप में प्रस्तुत किया गया है। ॥ इति ॥

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

छन्द—वसन्ततिलका

विद्या-स्तवन

है कीर्ति पूर्ण जग में जिनकी समाई,
वैराग्य में रंग गये पितु मातु भाई।
हैं भद्रमूर्ति मन में छल ना विकार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ॥१॥

पा 'ज्ञानसागर' गुरु गरिमा बढ़ाई,
औ! ज्ञानलक्ष्मि जिनके उर में समाई।
स्या (तू) वाद से विमल हैं जिनके विचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ॥२॥

वाणी सुधारस सदा सबको पिलाते,
अज्ञान, भेद, मत-संशय को मिटाते।
ऐसे जिनेन्द्र लघु हैं जग में प्रचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ॥३॥

है संघ पूर्ण, जग से परिमुक्त नेता,
ध्यानादि लीन तप इन्द्रिय के विजेता।
देवादि क्या मनुज नाग किया सुप्यार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ॥४॥

हैं धर्ममूर्ति अनुकूल चतुर्थ काल,
ले भव्य पाद-रज से उर मुक्तिमाल।
हो 'सन्मति', मुनि बनूं मन का विचार,
विद्यादिसागर जजें निज हो विहार ॥५॥

—क्षु० सन्मतिसागर

श्री १०८ पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज

जन्म	वि० संवत् २००३	सद्लगा (वेलगाम)
ब्रह्मचारी दीक्षा	वि० संवत् २०२५	अजमेर (राजस्थान)
आचार्य दीक्षा	२१-११-१९७२	नसीराबाद (राजस्थान)

विषय-सूची

गोमटेश अष्टक

ज्ञानोदय छन्द (लय—मेरी भावना)

नील कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित हैं,
शशि-सम मनहर सुख कर जिनका मुख-मण्डल मृदु प्रमुदित है।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की पराग नित मम मति पीती ॥१॥

गोल-गोल दो कपोल जिनके उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की सूण्डा सम बाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे।
कन्धों पर आ, कर्ण-पाश वे नर्तन करते नन्दन हैं,
निरालम्ब वे नभ-सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन हैं ॥२॥

दर्शनीय तव मध्य भाग है गिरि-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्य शंख भी आप कण्ठ से हार गया वह विफल रहा।
उन्नत विस्तृत हिमगिरि-सम है स्कन्ध आपका विलस रहा,
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पद में मन निवस रहा ॥३॥

विंध्याचल पर चढ़ कर खरतर तप में तत्पर हो बसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु जन के शिखामणी तुम हो लसते।
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश तुम नमन तुम्हें हो सदा चाह बस मन वशि हो ॥४॥

मृदुतम बेल लताएं लिपटी पग से उर तक तुम तन में,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन में।

तुम पद-पंकज में अलि बन सुर-पति गण करता गुन-गुन है,
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ॥५॥

अम्बर तज अम्बर-तल थित हो दिग अम्बर नहिं भीत रहें,
अम्बर आदिक विषयन से अति विरत रहें, भव भीत रहें।
सर्पादिक से घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहें,
गोमटेश स्वीकार नमन हो धुलता मन का मैल रहे ॥६॥

*आशा तुम को छू नहिं सकती समदर्शन के शासक हो,
जग के विषयन में वांछा नहिं दोष मूल के नाशक हो।
भरत-भ्रात में शल्य नहीं अब विगत-राग हो रोष जला,
गोमटेश तुम में मम इस विध सतत राग हो, होत चला ॥७॥

काम-धाम से धन-कंचन से सकल संग से दूर हुए,
शूर हुए मद मोह-मार कर समता से भर-पूर हुए।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये,
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन में अब वास किये ॥८॥

दोहा

नेमिचन्द्र गुरु ने किया प्राकृत में गुण-गान,
गोमटेश थुति अब किया भाषा-मय सुख खान ॥१॥
गोमटेश के चरण में नत हो बारंबार,
विद्यासागर कब बनूं भवसागर कर पार ॥२॥

॥ इति शुभं भूयात् ॥

---

*आशा के तुम पोषक नहिं हो समदर्शन के शासक हो।

शारदा स्तुति रियम्···· (द्रुतविलंबित छन्द)

रचयिता —श्री प० पू० आचार्य श्री १०८ विद्यासागर

जिनवरा नन नीरज निर्गते !
गणधरैः पुनरादर संश्रिते !
सकल-सत्व-हिताय वितानिते
तदनुतं रिति हे ! किल शारदे ! ॥१॥

सकल मानव मोद विधायिनी।
मधुर भाषिणि सुन्दर रूपिणी।
गतमले ! द्वय लोक सुधारिणी।
मम मुखे वस पाप विदारिणी ॥२॥

असि सदा हि विषक्षय कारिणी।
भुवि कुदृष्ट्हयेर्त्तविरागिनी।
कुरु कृपां करुणे कर वल्लकि।
मयि विभोः पद पंकज षट्पदे ॥३॥

उपलजो निज भाव महो यदा।
सुरूयोगत आशु विहाय सः।
कनक भाव मुपैति समेमि किं।
न शुचिभावमहं तव योगतः ॥४॥

जगति भारति ! तेऽक्षियुगंखलु।
नयमिषेण कुमार्गरतागमम्।
नयति हास्यपदं न तदास्मय-
मयि ! वचोमृतपूर्णसरोवरे ॥५॥

वृषजलेन वरेण वृषापगे।
शमय तापमहो ! मम दुस्सहम्।
सुखमुपैमि निजीयम पूर्वकम्।
द्रुतमहं लघुधीरथ येन हि ॥६॥

शिरसि तेनहि कृष्णतमाः कचा।
स्त्वयि न ते निलयं परिगम्य वै।
परमतामसका बहिरागता
इतिसरस्वति! हे! किल में वचः॥७॥

विगत कुल्मषभावनिकेतने!
तवकृता वरभक्तिरियं सदा।
विभवदा शिवदा पविभूयता
मिति ममास्ति शिशोश्शुभकामना॥८॥

शशिकलेव सितासि विनिर्मल।
विकचकं जजयक्षमलोचने।
यदि न मानवकोऽति सुखायते
त्वदवलोकनमात्रतथा कथम्॥९॥

शशिकला वदनप्रभया जिता।
नयन हारितया तव शारदे!
सपदि वैगतमानतयेतिसा
नखमिषेण तवांध्रियुगंश्रिता॥१०॥

श्रुतियुगं तव मान-मिषेण वै।
वितथमानमतं परिदूष्य च।
जिनमते गदितं यतिभिः परै-
र्यदिति सूजयतीह वरं हि तत्॥११॥

इह सदाऽऽस्वनितं शुभ-कर्मणि।
भवतु मे चरणं च सुवर्त्मनि।
जगति वंद्यत एव सरस्वती
तनुधिया सदया ह्यथ या मया॥१२॥

॥ सरस्वत्यै नमः॥

१०८ आचार्य श्री गुरुवर प्रातः स्मरणीय श्री ज्ञानसागर मुनिराज के पावन चरणों में सादर श्रद्धांजलि—

गुरो ! दल दल में मैं था फंसा,
मोह पाश से हुआ था कसा।
वन्ध छुड़ाया दिया आधार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१॥

पाप पंकसे पूर्ण लिप्त था,
मोह नींद में सुचिर सुप्त था।
तुमने जगाया किया उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥२॥

आपने किया महान् उपकार,
पहनाया मुझे रतन त्रय हार।
हुए साकार मम सब विचार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥३॥

मैंने कुछ ना की तव सेवा,
पर तुमसे मिला मिष्ट मेवा।
यह गुरुवर की गरिमा अपार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥४॥

निज धाम मिला, विश्राम मिला,
सब मिला, उर समकित पद्म खिला।
अरे। गुरुवर का वर उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥५॥

अंध था, बहिर था, था मैं अज्ञ,
दिये नयन व करण बनाया विज्ञ।
समझाया मुझको समयसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥६॥

मोह-मल धुला, शिव द्वार खुला,
पिलाया निजामृत घुला घुला।
कितना था गुरुवर उर उदार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥७॥

प्रवृत्तिका परिपाक संसार,
निवृत्ति नित्य सुख का भण्डार।
कितना मौलिक प्रवचन तुम्हार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥८॥

रवि से बढ़कर काम किया,
जन गण को बोध प्रकाश दिया।
चिर ऋणी रहेगा यह संसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥९॥

स्वपर हि तुम लिखते गंथ,
आचार्य उवझाय थे निर्ग्रन्थ।
तुम सा मुझ बनाया अनगार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१०॥

इन्दिय दमण कर, कष:य शमण,
करत निशदिन निज में ही रमण।
क्षमा था तव सुरम्य शृंगार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥११॥

बहु कष्ट सहे, समन्वयी रहे,
पक्ष पात से नित दूर रहे।
चूंकि तुममें था साम्य-संचार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१२॥

मुनि गावे तव गुण गण गाथा,
झके तुम पाद में मम माथा।
चलते, चलाते समयानुसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१३॥

तुम थे द्वादश विद्य-तप तपते,
पल, पल जिनप नाम जप जपते।
किया धर्म का प्रसार, प्रचार,
मम प्रमाण तुम करो स्वीकार॥१४॥

दुर्लभ से मिली यह 'ज्ञान' सुधा,
'विद्या' पी इसे, मत रो मुधा।
कहते यों गुरुवर यही 'सार'
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१५॥

व्यक्ति की सत्ता मिटादी,
उसे महा सत्ता में मिलादी।
क्यों न हो प्रभु से साक्षात्कार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार॥१६॥

करके दिखा दी सल्लेखना,
शब्दों में न हो उल्लेखना।
सुर नर कर रहें जय जयकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ॥१७॥

अधि नहीं थी, थी नहीं व्याधि,
जब आपने ली, परम समाधि।
अब तुम्हें क्यों न वरे शिवनार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ॥१८॥

मेरी भी हो इस विध समाधि,
रोष तोष नशे, दोष उपाधि।
मम आधार सहज समयसार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ॥१९॥

जय हो ! ज्ञानसागर ऋषिराज,
तुमने मुझे सफल बनाया आज।
और इक बार करो उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार ॥२०॥

॥ ज्ञानसागरेभ्यो नमः ॥

मंगलाचरण

दोहा

देव शास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पंचम-गति होय॥
चन्दन चन्दर-चांदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूं, मन वच तन कर नीत॥
सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि, मन गुरु भजन में, निशि दिन क्यों न लगाय ?॥

श्री कुन्दकुन्दाय नमः

'कुन्द' 'कुन्द' को नित नमूं, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय॥

श्री अमृतचन्द्राय नमः

'अमृतचन्द्र' से अमृत है, झरता जग अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी अमर बना सुख कूप॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि 'ज्ञान सागर' गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणा कर! करुणा करो कर से दो आशीष॥

अथ श्रमण-शतकम्

योगी करें स्तवन भाव-भरे स्वरों से,
जो हैं सुसंस्तुत नरों, असुरों, सुरों से।
वे वर्धमान गतमान मुझे बचावें,
काटें कुकर्म मम मोक्ष विभो! दिलावें॥१॥

जो चन्द्रगुप्त मुनि के गुरु हैं, बली हैं,
वे भद्रबाहु समधी श्रुत-केवली हैं।
बंदू उन्हें द्रुत भवोदधि पार जाऊं।
संसार में फिर कदापि न लौट आऊं॥२॥

हे 'कुन्दकुन्द' मुनि! भव्य-सरोज-बन्धु।
मैं बार-बार तव पाद-सरोज वंदूं।
सम्यक्त्व के सदन हो, समता सुधाम।
है धर्म-चक्र शुभ धार लिया ललाम॥३॥

जो 'ज्ञानसागर' सुधी गुरु हैं हितैषी,
शुद्धात्म में निरत, नित्य हितोपदेशी।
वे पाप-ग्रीष्म ऋतु मे जल हैं सयाने,
पूजूं उन्हें सतत केवल-ज्ञान पाने॥४॥

हे शारदे! अब कृपा करदे जरा तो,
तेरा उपासक खरा, भव से डरा जो!
माता! विलम्ब करना मत, मैं पुजारी,
आशीष दो, बन सकूं, बस निर्विकारी॥५॥

रे ! साधु का निहित है हित साधुता में
धारूं उसे तज असार असाधुता मैं।
भाई अतः श्रमण के हित मैं लिखूंगा,
शुद्धात्म को सहज से फलतः लखूंगा ॥६॥

विद्वान मान मन में मुनि जो न धारें,
वे 'वीर' के वचन से मन को सुधारें।
जाके रहें विपिन में मन मोद पाते,
है स्नान आत्म-सर में करते सुहाते ॥७॥

जो कर्म को यति यदा करता नहीं है,
आत्मा उसे वह तदा दिखता सही है।
ऐसा सदैव कहती जिन देव वाणी,
होते सुखी सुन जिसे, सब भव्य प्राणी ॥८॥

तू छोड़ के विषमयी उस वासना को,
निश्चिन्त हो, कर निजीय उपासना को।
निर्भ्रान्ति ही शिवरमा तुझको वरेगी,
योगी कहे, परम प्रेम सदा करेगी ॥९॥

हैं पुण्य-पाप पर, पुदगल रूप जानूं,
सम्यक्त्व भाव इनसे किस भांति मानूं।
ना नीर के यथन से, नवनीत पाना,
अक्षुण्ण कार्य करके थक मात्र जाना ॥१०॥

नाना प्रकार तप से तन को तपाया,
है छोड़ वस्त्र जिनने अघ को हटाया।
पाया निजानुभव को निज को दिपाया,
मैंने उन्हें विनय से उर बीच पाया ॥११॥

कम्पायमान मन को जिसने न रोका,
आत्मा उसे न दिखता जड़ से अनोखा।
आकाश में अरुण शोभित हो रहा है,
क्या अन्ध को नयनगोचर हो रहा है? ॥१२॥

जो जीतता सब क्षुधादि परीषहों को।
संहार रागमय-भाव स्ववैरियों को
है वीतराग बनता वह शीघ्रता से,
शुद्धात्म को निरखता, बचता व्यथा से ॥१३॥

है वन्द्य दिव्य निज आतम द्रव्य न्यारा
जो शुद्ध निश्चय नयाश्रित मात्र प्यारा।
योगी गृही सम उसे न कभी निहारें,
जो त्याग के पुनि परिग्रह-भार धारें ॥१४॥

सदबोध रूप सर शोभित है विशाल,
ना हैं जहां वह विकल्प तरंग-जाल।
शोभे तथा परम धर्म पयोज प्यारे,
तू छोड़ के मनमराल ! उसे न जा रे ! ॥१५॥

जीतीं जिनेश ! जिसने निज इन्द्रियां हैं,
माना गया यति वही, जग में यहां है।
श्रद्धा-समेत उसको सिर मैं नमाता,
शुद्धात्म को निरख, शीघ्र बनूं प्रमाता ॥१६॥

सद्बोध से परम शोभित जो यहां है।
पीयूष पी स्वपद में रमता रहा है।
क्या संयमी विषय-पान कदापि चाहे?
जो जीव को विष समान सदैव दाहे ॥१७॥

विज्ञान से स्वपद को जिसने पिछाना,
त्यागा सभी तरह से पर को सुजाना।
वो दुःखरूप उस आस्रव को नशाता,
स्वामी ! सही सुखद संवर तत्त्व पाता ॥१८॥

मायादि शल्व-त्रय को मुनि नित्य त्यागें,
ज्ञानादि रत्नत्रय धार सदैव जागें।
वे शुद्धतत्त्व फलतः पल में लखेंगे,
संसार में परम सार, उसे गहेगें ॥१९॥

आदेय-हेय जिनने सहसा पिछाने,
लाये स्वचिन्तनतया मन को ठिकाने।
ज्ञानी वशी परम धीर मुमुक्षु ऐसे,
स्वामी ! रखें कुपथ में निजपाद कैसे ? ॥२०॥

संसार से वहुत यद्यपि जो डरा है,
जाना जिनागम सभी जिसने खरा है।
आत्मा उसे न दिखता, यदि है प्रमादी,
ऐसा सदैव कहते गुरु सत्यवादी ॥२१॥

है ज्ञान जो सघन पावन पूर्ण प्यारा,
सद्ज्ञान रूप जल की झरती सुधारा।
शोभामयी अतुलनीय सुखैकडेरा,
नीचे उसे निरख मानस-मोर मेरा ॥२२॥

होते घनिष्ठ जिसके दृग-बोध साथी
होता वही चरित आतम का सुखार्थी।
देता निजीय सुख, तीरथ भी कहाता,
तू धार मित्र ! उसको दुःख क्यों उठाता ? ॥२३॥

पीता निजानुभव पावन पेय प्याला,
डाले गले शिवरमा उसके सुमाला।
जो लोक में अनुपमा शुचि-धारिणी है,
ऐसा जिनेश कहते, सुख-कारिणी है॥२४॥

रागादि भाव जिसमें न, वही समाधि,
पाके उसे मुदित हो मुनि अप्रभादी
होती नदी अमित सागर पा यथा है,
किं वा दरिद्र खुश हो निधि पा अथाह॥२५॥

है देह-नेह भव-कारण तो उसी से,
मोक्षेच्छु मैं, बहुत दूर रहूं, खुशी से।
मैं हो विलीन निज में, निज को भजूंगा,
स्वामी! अनन्त सुख पा, भव को तजूंगा॥२६॥

जो भी निजानुभव को जब प्राप्त होते,
वे रागद्वेष लव को न कदापि ढोते।
तो कौन सा फिर पदार्थ रहा द्रव शेष?
प्राप्तव्य जो कि उनको न रहा विशेष॥२७॥

रागादि भाव पर हैं, पर से न नाता,
ज्ञानी-मुनीश रखता, पर में न जाता।
धिक्कार मूढ़ पर करता, कराता,
ना तत्त्व-बोध रखता, अति दुःख पाता॥२८॥

सम्बन्ध होत विधि से विधि का सदा है,
बोधैकधाम 'जिन' ने जग को कहा है।
ऐसा रहस्य फिर भी मुनि ने गहा है,
जो आत्मभाव करता साहस रहा है॥२९॥

आत्मानुभूति बर चेतन-मूर्ति प्यारी,
साक्षात् यदा उपजती शिवसौख्यकारी।
मांगे तथापि मुनि क्या जग-सम्पदा को?
देती सदा जनम जो बहु आपदा को ॥३०॥

संपूर्व भोग मिलने पर भी कदापि,
भोगी नहीं मुनि बने, बनते न पापी।
पीते तभी सतत हैं समता सुधा को
गाली मिले, न फिर भी करते क्षुधा को ॥३१॥

मिथ्यात्व को हृदय में, मत स्थान देना,
है दुष्ट व्याल वह, क्यों दुःख मोल लेना
छोड़ो उसे, निकट भी उसके न जाओ,
तो शीघ्र ही अतुल संपति-धाम पाओ ॥३२॥

जैसे कहे जलज जो जल से निराला,
वैसे बना रह सदा जड़ से खुशाला।
क्यों तू प्रमत्त बनता, बन भोग त्यागी,
रागी नहीं बन कभी, बन वीतरागी ॥३३॥

हूं देह से पृथक चेतना शक्ति वाला,
स्वामी! सदैव मुझसे तन भी निराला।
यों जान, मान तन का मद छोड़ता हूं,
मैं मात्र मोक्ष-पथ से मन जोड़ता हूं ॥३४॥

हो काम नष्ट, अघ भी मिटता यदा है,
योगी विहार करता निज में तदा है।
आकाश में विहग क्या फिर भी उड़ेगा?
जो जाल में फंस गया, फिर क्या करेगा? ॥३५॥

सौभाग्य से श्रमण जो कि बना हुआ है,
सच्चा जिसे प्रशम भाव मिला हुआ है।
छोड़े नहीं वह कभी उस निर्जरा को,
जो नाशती जनम-मृत्यु तथा जरा को ॥३६॥

संसार में धन न सार, असार सारा,
स्थायी नहीं, न उनसे सुख हो अपारा।
है सार तो समय-सार अपार प्यारा,
हो प्राप्त शीघ्र जिससे वह मुक्तिदारा ॥३७॥

निस्संग हो विचरते गिरि-गह्वरों में,
वे साधु ज्यों पवन हैं वन कन्दरों में।
कामाग्नि को स्वरस पी झट से बुझा के,
विश्राम पूर्ण करते निज-धाम जाके ॥३८॥

शोभे सरोज-दल से सर ठीक जैसा,
सद्ध्यान रूप जल से मुनि-मीन वैसा।
हो कंज में मृदुपना, न असंयमी में,
'ना शब्द व्योम गुण है' —कहते यमी है ॥३६॥

ये आर्तरौद्र मुझको रुचते नहीं हैं,
संसार के प्रमुख कारण पाप वे हैं।
श्री रामचन्द्र फिर मृग-भ्रान्ति भूले?
जो देख काञ्चन-मृगी इस भांति फूले ॥४०॥

योगी निजानुभव से पर को भुलाता,
है वीतरागपन को फलरूप पाता।
वो क्या कभी मरण से मुनि हो डरेगा?
शुद्धोपयोग धन को फिर क्या तजेगा? ॥४१॥

जो भानु है, छगसरोज विकासता है,
योगी सुदूर रहता उससे यदा है।
वो तो तदा नियम से पर भावनायें,
हा ! हा ! करे, सहत है फिर यातानयें ॥४२॥

ये पञ्च पाप इनको वस शीघ्र छोड़ो,
धारो महाव्रत सभी मन को मरोड़ो।
औ ! राग का तुम ममादर ना करो रें !
देवाधिदेव 'जिन' को उर में धरो रे ! ॥४३॥

रे ! 'वीर' ने जड़मयी तज के क्षमा को,
है धार ली तदुपरान्त महा क्षमा को।
जो चाहते जगत में बनना सुखी हैं,
धारें इसे, परम मुक्ति-वधू-सखी है ॥४४॥

आस्था घनिष्ठ निज मे जिनकी रही है,
विज्ञान से चपलता मन की रुकी है।
होता चरित्र उनका वर मोक्ष-दाता,
ऐसा रहस्य यह छन्द हमें बताता ॥४५॥

आत्मा जिसे न रुचता वह तो मुधा है,
मिथ्यात्व से रम रहा पर में वृथा है।
ज्ञानी निजीय घर में रहते सदा ये,
बन्दूं, उन्हें, द्रुत मिले निज सम्पदायें ॥४६॥

कैसे रहे अनल दाहकता बिना वो,
तो अग्नि से पृथक दाहकता कहां हो ?
आकाश के बिन कहीं रह तो सकेगा,
पै ज्ञान आतम बिना न कहीं रहेगा ॥४७॥

जो मात्र शुद्धनय से न हि शोभता है,
पै वीतरागमय भाव सुधारता है।
लक्ष्मी उसे वरण है करती खुशी से,
सागर को निरखती तक ना इसी से ॥४८॥

"है पूर्व में मुनि सभी बनते अमानी,
पश्चात जिनेश बनते," यह 'वीर' वाणी।
तू भी अभी इसलिए तज मान को रे,
शुद्धात्म को निरख, ले सुख की हिलोरें, ॥४६॥

संसार सागर किनार निहारना है,
तो मार मार, दृग को द्रुत धारना है।
औ ! जातरूप 'जिन' को नित पूजना है,
भाई ! तुझे परम आतम जानता है ॥५०॥

सल्लीन हों स्वपद में सब सन्त साधु,
शुद्धात्म के सुरस के बन जाये स्वादु।
वे अन्त में सुख अनन्त नितान्त पावें,
सानन्द जीवन शिवालय में बितावें ॥५१॥

"ये रोष-रागमय भाव विकार सारे,
मेरे स्वभाव नहि हैं"—बुध यों विचारें।
ये पाप पुण्य, इनमें फिर मौन धारे,
औ देह-स्नेह तजके निजको निहारे ॥५२॥

संसार के जलधि से कब तैरना हो,
ऐसी त्वदीय यदि हार्दिक भावना हो।
आस्वाद ले जिनप-पाद-पयोज का तू,
ना नाम ले अब कभी उस 'काम' का तू ॥५३॥

संसार-बीच वहिरातम वो कहाता,
झूठा पदार्थ गहता, भव को बढ़ाता।
बेकार मान करता निज को भुलाता,
लक्ष्मी उसे न वरती, अति कष्ट पाता ॥५४॥

जो पाप से रहित चेतन मूर्ति प्यारी,
हो प्राप्त शीघ्र उनको भव दुःख हारी।
जो भी महाश्रमण हैं निज गति गाते
सच्चे क्षमादि दशा धर्म स्वचित्त लाते ॥५५॥

सम्यक्त्व-लाभ वह है किस काम आता,
है कर्म का उदय ही यदि पाप लाता।
तो हाय ! मुक्ति-ललना किसको वरेगी ?
वो सम्पदा अतुलनीय किसे मिलेगी ॥५६॥

लेवें निजीय विधि का मुनि वे सहारा,
संसार मूल जड़ वैभव को बिसारा।
ना चाहते विबुध वे यश सम्पदा को,
हां, चाहते जड़ उसे, सहते व्यथा को ॥५७॥

संसार में सुख नहीं, दुःख का न पार,
ले आत्म में रुचि भला सुख हो अपार।
सिद्धांत का मनन या कर चाव से तू,
क्यों लोक में भटकता पर भाव से तू ? ॥५८॥

जो भी रहें समय में रत, मौन धारे,
पाते अलौकिक सही सुख शीघ्र सारे।
वो विज्ञ ना समय का, वह कष्ट पाता,
पीड़ार्त हो, समय है जब बीत जाता ॥५६॥

आत्मा अनन्त-गुण-धाम, सदैव जानो,
सम्यक्त्व प्राप्त करके निज को पिछानो।
जाओ वहां, इधर या तुम शीघ्र आओ,
आदेश ईदृश नहीं पर को सुनाओ ॥६०॥

भोगे हुए विषय को मन में न लाता
औ प्राप्त को पकड़ना न जिसे सुहाता।
कांक्षा नहीं उस अनागम की करेगा,
वो सत्य पाकर कभी अहि से डरेगा ? ॥६१॥

हे वीर देव ! तुमको नमते मुमुक्षु,
पीते तभी स्वरस को सब सन्त भिक्षु।
क्यों बीच में मनुज तेज कचौड़ि खाते ?
पश्चात् अवश्य फलतः हलवा उड़ाते ॥६२॥

चारित्र का नित समादर जो करेंगे,
वे ही जिनेन्द्र-पद की स्तुति को करेंगे।
ऐसा सदैव कहती प्रभु भारती है,
नौका-समान भव पार उतारती है ॥६३॥

आहार जो न करते समयानुसार,
औ धारते न रतनत्रय-रूप हार।
रागाग्नि से सतत वे जलते रहेंगे,
संसार वारिधि महा फिर क्यों तिरेंगे ? ॥६४॥

देखो सखे ! अमर लोग सुखी न सारे,
वे भी दुःखी सतत, खेचर जो बिचारे।
दुःखार्त्त ही दिख रहे नर मेदिनी में,
शुद्धात्म में रम अतः, मन रागिनी में ॥६५॥

कामाग्नि से परम तप्त हुआ सदा से,
तू आत्म को कर सुतृप्त स्व की सुधा से।
कोई प्रयोजन नहीं जड़ सम्पदा से,
पा बोध, हो नर! सुखी अति शीघ्रता से ॥६६॥

सम्बन्ध द्रव्य श्रुत से नहिं मात्र रक्खो,
रक्खो स्वभाव श्रुत से, निज स्वाद चक्खो।
है मेदिनी तप गई रवि ताप से जो,
क्यो शांत हो जल विना, जल नाम से वो ॥६७॥

"पर्याय वो जनमती मिटती रही है।
त्रैकालिकी यह पदार्थ, यही सही है।"
श्री वीर देव जिन की यह मान्यता है,
पूजूं उसे विनय से यह साधुता है ॥६८॥

संमोह राग मद है यदि भासमान,
या विद्यमान मुनि के मन मेंद्रभिमान।
आनन्द हो न उस जीवन में कदापि,
हा! हा! वही नरक कुण्ड बना द्रपिपायी ॥६९॥

श्रद्धाभिभूत जिसने मुनि लिंग धारा,
कंदर्प को सहज से फिर मार डारा।
अत्यन्त शान्त निजको उसने निहारा,
औ अन्त में वल ज्वलन्त अनन्त धारा ॥७०॥

"रे! पाप ही अहित है, रिपु है तुम्हारा,
काला कराल अहि है, दुःख दे अपारा।
हो दूर शीघ्र उससे, तब शान्ति धारा,"
ऐसा कहे जिनप जो जग का सहारा ॥७१॥

ले रम्य दृश्य ऋतुराज वसन्त आता,
ज्यों देख कोकिल उसे मन मोद पाता।
हे वीर ! त्यों तव सुशिष्य खुशी मनाता,
शुद्धात्म को निरख औ' दुःख भूल जाता ॥७२॥

होता कुधी, वह सुखी दिवि में नहीं है,
तू आत्म में रह, अतः सुख तो वही है।
क्या नाक से, नरक से ? इकसार भाया,
सम्यक्त्व के बिन सदा ! दुःख ही उठाया ॥७३॥

ज्योत्स्ना लिये, तपन यद्यपि है प्रतापी,
छा जाय बादल, तिरोहित हो तथापि।
आत्मा अनन्त द्युति लेकर जी रहा है।
हो कर्म से अवश, कुन्दित हो रहा है ॥७४॥

कैसे मिले ? नहिं मिले सुख मांगने से,
कैसे उगे अरुण पश्चिम की दिशा से।
तो भी सुदूर वह मूढ़ निजी दशा से,
होता अशान्त अति पीड़ित ही तृषा से ॥७५॥

लिप्सा कभी विषय की मन में न लाओ,
चारित्र धारण करो, पर में न जाओ।
चिन्ता कदापि न अनागत की करोगे,
विश्राम स्वीय घर में चिरकाल लोगे ॥७६॥

संसार सागर असार अपार खारा,
है दुःख ही, सुख जहां न मिले लगारा।
तो आत्म में रत रहो, सुख चाहते जो,
है सौख्य तो सहज मे, नहिं जानते हो ॥७७॥

"कैवल्य-साधन न केवल नग्न-भेष,"
त्रैलोक्य वन्द्य इस भांति कहें जिनेश।
इत्थम् न हो, पशु दिगम्बर क्या न होते ?
होते सुखी ? दुखित क्यों दिन रात रोते ? ॥७८॥

"संसार की सतत वृद्धि विभाव से है,
तो मोक्ष सम्भव स्वतन्त्र स्वभाव से है।
हो जा अतः अभय, हो विभु में विलीन,"
हैं केवली-वचन ये—"बन जा प्रवीण" ॥७९॥

सम्यक्त्व नीलम गया जिसमें जड़ाया,
चारित्र का मुकुट ना सिर पै चढ़ाया।
तू ने तभी परम आतम को न पाया।
पाया अनन्त दुःख ही, सुख को न पाया ॥८०॥

जो काय से वचन से मन से सुचारे,
पा बोध, राग मल धोकर शीघ्र डारे।
ध्याता निरन्तर निरंजन जैन को है,
पाता वही निमम से सुख चैन को है ॥८१॥

दुस्संग से प्रथम जीवन शीघ्र मोड़ो,
तो संग को समझ पाप तथैव छोड़ो।
विश्वास भी कुपथ में न कदापि लाओ,
शुद्धात्म को विनय से तुम शीघ्र पाओ ॥८२॥

पत्ता पका गिर गया तरु से यथा है,
योगी निरीह तन से रहता तथा है।
औ ब्रह्म को हृदय में उसने बिठाया,
तू क्यों उसे विनय से स्मृति में न लाया ॥८३॥

वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव,
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव ॥८४॥

जो साधु जीत इन इन्द्रिय-हाथियों को,
आत्मार्थ जा, वन वसें, तज ग्रन्थियों को
पूजूं उन्हें सतत वे मुझको जिलावें,
पानी सदा दृगमयी कृषि को पिलावें ॥८५॥

मैं उत्तमांग उसके पद में नमाता,
जो है क्षमा-रमणि से रमता-रमाता।
देती क्षमा अमित उत्तम सम्पदा को,
भाई ! अतः तज सभी जड़-सम्पदा को ॥८६॥

ना वन्द्य है, न नयनिश्चय मोक्ष-दाता,
ना है शुभाशुभ, नहीं दुःख को मिटाता।
मैं तो नमूं इसलिए मम ब्रह्म को ही,
सद्यः टले दुःख, मिले सुख और बोधि ॥८७॥

सत् चेतना हृदय में जब देख पाता,
आत्मा मदीय भगवान समान भाता।
तू भी उसे भज जरा, तज चाह-दाह,
क्यों व्यर्थ ही नित व्यथा सहता अथाह ॥८८॥

"गम्भीर-धीर यति जो मद ना धरेंगे,
औ भाव-पूर्ण स्तुति भी निज की करेंगे।
वे शीघ्र मुक्ति ललना वरके रहेंगे,"
ऐसा जिनेश कहते—'सुख को गहेंगे' ॥८९॥

आत्मावलोकन कदापि न नेव से हो,
पूरा भरा परम पावन बोधि से जो।
आदर्श-रूप अरहन्त हमें बताते,
कोई कभी दृग बिना सुख को न पाते ॥६०॥

जो 'वीर' के चरण में नमता रहा है,
चारित्र का वहन भी करता रहा है।
औ गोत्र का दृग बिना मद ढो रहा है।
विज्ञान को न गहता, जड़ सो रहा है ॥६१॥

धिक्कार! मोक्ष-पथ से च्युत हो रहा है,
तू अंग-संग ममता रखता अहा है।
भाई ! अतः सह रहा नित दुःख को ही,
लेले विराम अब से, तज मोह मोही ! ॥६२॥

जो सन्त हैं, समय-सार-सरोज का वे,
आस्वाद ले भ्रमर—से परमें न जावें।
सम्यक्त्व हो न पर से, निज आत्म से ही,
भाई सुधा रस झरे शशि बिम्ब से ही ॥६३॥

आया हुआ उदय में यह पुण्य पिण्ड,
औ' पाप, भिन्न मुझको जड़ का करण्ड।
ब्रह्मा न किन्तु पर है, वर बोध भानु,
मैं सर्व गर्थ तजके इस भांति जानूं ॥६४॥

साधु सुधार समता, ममता, निवार
जो है सदैव शिव में करता विहार।
तो अन्य साधु तक भी उसके पदों में,
होते सुलीन अलि-से, फिर क्या पदों में ? ॥६५॥

प्राय: सभी कुतप से सुर भी हुए है,
लाखों दफा असुर हो, मर भी चुके है।
दैदीप्यमान नहिं 'केवलज्ञान' पाया,
हे वीर देव! हमने दुःख ही उठाया ।।९६।।

"सानन्द यद्यपि सदा जिन-नाम लेते,
योगी तथापि न निजातम देख लेते।
तो वो उन्हें शिवरमा मिलती नहीं है।"
तेरा जिनेश ! मत ईदृश क्या नहीं है ।।९७।।

अत्यन्त मोह-तम में कुछ ना दिखेगा;
तू आत्म मे रह, प्रकाश वहां मिलेगा।
स्वादिष्ट मोक्ष-फल वो फलतः फलेगा,
उद्दीप्त दीपक सदैव अहो! जलेगा ।।९८।।

तू चाहता विषय में मन ना भुलाना,
तो सात तत्त्व-अनुचिन्तन में लगा ना!
ऐसा न हो, कुपथ से सुख क्यों मिलेगा?
आत्मानुभूति झरना फिर क्यों झरेगा? ।।९९।।

हूं बाल, मन्द-मति हूं लघु हूं, यमी हूं,
मैं राग की कर रहा क्रम से कमी हूं।
हे चेतने ! सुखद-शान्ति-सुधा पिलादे,
माता ! मुझे कर कृपा मुझमें मिलादे ।।१००।।

चाहूं कभी न दिवि को अयि वीर स्वामी!
पीऊं सुधा रस निजीय, बनूं न कामी।
पा 'ज्ञानसागर'-सुमन्थन से सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूं, तजदूं अविद्या ।।१०१।।

यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर।
हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर ॥१॥

विषय कषाय तजो भजो, जरा निर्जरा धार।
ध्याओ निज को तो मिले, अजरामर पद सार ॥२॥

सागर वो कचरा तजे, समझ उसे निस्सार।
गलती करता क्यों भला, तू अध को उर धार ॥३॥

रवि सम पर उपकार में, रहो विलीन सदैव।
विश्व शान्ति वरना नहीं, यों कहते जिनदेव ॥४॥

रग-रग से करुणा झरे दुखी जनो को देख।
चिर रिपु लख ना नयन में, चिन्ता रुधिर को रेख ॥५॥

तन-मन-धन से तुम सभी, पर का दुःख निवार।
शम-दम-यम युत हो सदा, निज में करो बिहार ॥६॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारों मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो, कर से दो आशीश ॥७॥

इक त्रि शून्य द्वय वर्ष की, भाद्रपदी सित तीज।
लिखा गया अजमेर में भक्ति-मुक्ति का बीज ॥८॥

नमूं ज्ञानसागर गुरु, मुझ में कुछ नहि ज्ञान।
त्रुटियां होंवे यदि यहां, शीघ्र पढ़े धीमनि ॥९॥

भावना शतकम्

तीर्थंकर ! ऐसे बने !!

मंगलाचरण

(वसन्ततिलका छन्द)

शोभे प्रभो परमपावन पा पदों को,
योगी करे नमन ये जिनके पदों।
सौभाग्य मान उसको उरमें बिठालूं,
साफल्य पूर्ण निज जीवन को बनालूं ॥१॥

गुरुस्तवन

ध्यानाग्नि से मदन को तुमने जलाया,
पीयूष स्वानुभव का निजको पिलाया।
धारा सुरत्नत्रय हार, अतः कृपालो,
पूजूं तुम्हें मम गुरो ! मद मेट डालो ॥२॥

शारदा स्तुति

अन्धा विमोह तम में भटका फिरा हूं,
कैसे प्रकाश बिन संवर भाव पाऊं।
हे ! शारदे ! विनय से द्वय हाथ जोडूं,
आलोक दे विषय को विष मान छोडूं ॥३॥

प्रतिज्ञा

सम्मान मैं समय का करता कराता,
हूं 'भावना शतक' काव्य अहो बनाता।
मेरा प्रयोजन प्रभो ! कुछ और ना है,
जीतूं विभाव भव को बस भावना है ॥४॥

दर्शनविशुद्धि भावना

आदर्श सादृश सुदर्शन शुद्धि प्यारी,
पाके जिसे जिन बने स्वपरोपकारी।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
साक्षात् भवांबु निधि के यह भव्य सेतू ॥५॥

होता विनष्ट जब दर्शन मोह स्वामी,
जाती तथा वह अन्त कषाय नामी।
पाते इसे जन तभी जिन ! जैन जो हैं,
सद् भारती कह रही जनमीत जो हैं ॥६॥

जो अंग-अंग करुणा रस से भरा है,
शोभायमान दृग से वह हो रहा है।
औचित्य है समझ में यह बात आती,
अत्युज्ज्वला शशिकला निशि में सुहाती ॥७॥

हो प्राप्त स्वर्ग तक पुण्य विधान से भी,
होता न प्राप्त दृग शस्त निदान से भी।
सत् साधना सहज साध्य सदा दिलाती,
लक्ष्मी अहो मृदुल हाथ तभी मिलाती ॥८॥

दुर्जेय मोह रिपु को जिनने दबाया,
शुद्धोपयोग मणि हार गले सजाया।
वे साधु बोध बिन भी दृग शुद्धि पाते,
जो बाह्य में निरत हैं दुःख ही उठाते ॥९॥

आलोक दे सुजन को रवि से जगाती,
है भव्य कंज दल को सहसा खिलाती।
है पाप रूप तम को क्षण में मिटाती,
ऐसी सुदर्शन विशुद्धि किसे न भाती ॥१०॥

विनय सम्पन्नता भावना

ना पाप को, विनय को शिर मैं नमाता,
हे वीर! क्योंकि मुझको निज सौख्य भाता।
जो भी गया तपनताप तथा सताया,
क्या चाहता अनलको, तज नीर छाया ॥११॥

सेना-विहीन नृप ज्यों जय को न पाता,
त्यों हीन जो विनयसे शिवको न पाता।
सत् साधना यदि करे दुःख भी टलेगा,
संसार में सहज से सुख भी मिलेगा ॥१२॥

निर्भीक हो विनय आयुध को सुधारा,
हे! वीर! मान रिपु को पुनि शीघ्र मारा।
पाया स्वकीय निधि को जिसने यदा है,
क्या मांगता वह कभी जड संपदा है? ॥१३॥

वे व्यर्थ का नहिं घमण्ड कभी दिखाते,
सन्मार्ग को विनय से विनयी दिखाते।
पापी कुधि तक तभी भव तीर पाते,
विद्वान भी हृदय में जिनको बिठाते ॥१४॥

संसार में विनय के बिन तू चलेगा,
आनन्द ओ अमित औ मित क्यों मिलेगा।
योगी सुधी तक सदा इसका सहारा,
लेते अतः नमन हो इनको हमारा ॥१५॥

विद्वेष जो विनय से करते कराते,
निर्भ्रान्त वे नहिं भवोदधि तैर पाते।
जाना उन्हें भव भवान्तर क्यों न होगा,
ना मोक्ष का विभव संभव भव्य होगा ॥१६॥

सुशील भावना

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखे जहां दुःख भरा कुछ ना सहारा।
ऐसे जिनेश कहते, जगके विधाता,
जो काम-मान-मद त्याग बने प्रमाता ॥१७॥

पूजा गया मुनि गुणों यति योगियों से,
त्यों शील, नील मणि त्यों जग भोगियों से।
सत् शील, में सतत् लीन अतः रहूं मैं,
लो ! मोक्ष को निकट ही फलतः लखू मैं ॥१८॥

गंगाम्बु को न हिम को शशि को न चाहूं,
चाहूं न चन्दन कभी मन में न लाऊं।
लो शील झील मनकी गरमी मिटाती,
डूबूं वहां सहज शीतलता सुहाती ॥१९॥

मैं भूत भावि सब साम्प्रत पाप छोड़ूं
चारित्र संग झट चंचल चित जोड़ूं।
सौभाग्य मान जिसको मुनि साधु त्यागी,
हैं पूजते नमन भी करते विरागी ॥२०॥

जैसी सती जगत में गज चाल हो तो,
शोभे उषा पवन मन्द सुगन्ध हो तो।
संसार शोभित रहे गतिचार होवें,
सर्वत्र सिद्ध सब वे गति चार खोवें ॥२१॥

वैसा सुशील व्रत संयम योगसेरे,
होते सुशोभित सुधी, नहिं भोगसेरे।
सिद्धान्तपारग सभी गुरुयों बताते,
सद्ध्यान में सतत जीवन हैं बिताते ॥२२॥

निर्भीक मैं बढ़ रहा शिव ओर स्वामी,
आरूढ़ शील रथ पे अति शीघ्र गामी।
लो काल व्याल-विकराल-कराल-काला,
है भीति ये पडगया वह और काला ॥२३॥

निरन्तर ज्ञानोपयोग भावना

होता विनिर्विष रसायन से धतूरा,
है अग्नि से पिघलता झट मोम पूरा।
जो काम देख शिव को दश प्राण खोता,
विज्ञान को निरख त्यों मद नष्ट होता ॥२४॥

संयोग पा मदन मंजुलकान्तका वे,
जैसा नितान्त ललना जन मोद पावे।
किंवा सुखी कुमुद वारिधि चन्द्रसे हो,
वैसा मदीय मन मोदित ज्ञान से हो ॥२५॥

ज्ञानोपयोग बन तू मम मित्र प्यारा,
ज्यों अग्नि का पवन मित्र बिना उदार,
पीड़ा मिटे सुख मिले भव जेल छूटे,
धारा अपूर्व सुख की न कदापि टूटे ॥२६॥

स्वामी ! भले हि शिर पे शशि भा रहा हो,
विज्ञान से विकल शंकर हो रहा हो।
श्री कृष्ण पाकर इसे कुछ ही दिनों में,
होंगे सुतीर्थंकर बंदित सज्जनों में ॥२७॥

ज्ञानोपयोग वर संवर साधता है,
चांचल्य चित्त झट से यह रोकता है।
भाई ! निजानुभवियों यति नायकों ने,
ऐसा कहा सुन ! जिनेन्द्र उपासको ने ॥२८॥

जाज्वल्यमान न कदापि चलायमान,
हो ज्ञान दीप करमें यदि विद्यमान।
रूपी दिखे, पर पदार्थ सभी अरूपी,
है स्पष्ट रूप दिखते जिन चित् स्वरूपी ॥२९॥

संवेग भावना

माला सुमेरू मणि से जिस भांति भाति,
वाणी गणेश मुख से जिन की सुहाति।
संवेग से मनुज भी उस भांति भाता,
जो है सदैव जिन का गुण गीत गाता ॥३०॥

बोले विहंगम, उषा मन को लुभाती,
शोभावती वह निशा शशि से दिखाती।
हो पूर्ण शांत रस से कविता कहाती,
शुद्धात्म में मुनि रहे मुनिता सुहाती ॥३१॥

ज्यों मारता सहज अर्जुन कौरवों को,
संवेग त्यों दुरित कर्म अरातियों को।
दावा यथा सघन कानन को जलाता,
संसार रूप वन को यह भी मिटाता ॥

ज्यों नाग नाम सुन मेंढक भाग जाता,
त्यों ही कषाय इसके नहिं पास आता।
ऐसी विशेष महिमा इसकी सुनीरे,
संवेग रूप धन पा बन जा धनी रे ॥३२॥

संवेग है परम सौख्यमयी उषाका,
धाता परन्तु शशि है दुखता निशिका।
निर्दोष है यह सदा शशि दोष धाम,
संवेग श्रेष्ठ शशि से लसता ललाम ॥३३॥

सम्यक्त्व ज्योति बल से रवि को हराता,
है तेज वाडव भवाम्बुधि को सुखाता।
चांचल्यचित्त मृग को यह व्याघ्र खाता,
संवेग आत्मिक महा सुख का विधाता ॥३४॥

संसार से स्वतन से जड़ भोग से वे,
होते निरीह बुध हैं इन को न सेवें।
पीड़ा अतीव इन से दिन रैन होती,
शीघ्राति शीघ्र बुझती निज बोध ज्योति ॥३५॥

कामाग्नि से जल रहा यदि पूर्ण रागी,
धाता नहीं वह न शंकर है न त्यागी।
तो विश्वका अमित दुःख त्रिशूल धारी,
कैसे मिटाकर, बने स्वपरोपकारी ? ॥३६॥

ले क्षीर स्वाद रसना अतिमोद पाती,
पा फूल, फूलसम नासिक फूल जाती।
संतुष्ट वो तृषित शीतल नीर से हो,
मेरा सुतृप्त मन तो अघ त्याग से हो ॥३७॥

संतुष्ट बाल जननीस्तन पान से हो,
फूले लता ललित लो! जल स्नान से हो।
हो तुष्ट आम्र कलिका लख कोकिला वे,
मेरा कषाय तजके मन मोद पावे ॥३८॥

शास्त्रानुसार यदि त्याग नहीं बना है,
लो ! दुख ही न मिटता उससे अहा है।
जो अग्नि क्षार रस से अति ही भरा है,
भाई कभी न मिटती उससे क्षुधा है ।।३९।।

शक्तितस्त्याग भावना

क्या साधु से सुबुध से ऋषि से यमी से,
भाई प्रशंसित रही समता सभी से।
सौभाग्य है मम घड़ी शुभ आ गई है,
सर्वांग में सुसमता सुसमा गई है ।।४०।।

मैं वीतराग बन के मन रोकता हूं,
तो सत्य तथ्य निज रूप विलोकता हूं।
आलोक हो अरुण वो जब जन्म लेता,
अज्ञात को नयन भी झट चाट लेता ।।४१।।

सत् तप भावना

शुद्धात्म में स्थिति सही तप ही वही हो,
तो नश्यमान तन में रुचि भी नहीं हो।
ऐसा न हो सुख नहीं दुःख ही अतीव,
हैं वीतराग गुरु यों कहते सदीव ।।४२।।

आतापनादि तप से तन को तपाया,
योगी बना, बिन दया निजको न पाया।
पाया नहीं सुख कभी वह दुःख पाया,
होता अहिंसक सुखी जिन देव गाया ।।४३।।

दीखे परीषहजयी वह देखने में,
है लीन यद्यपि महाव्रत पालने में।
लक्ष्मी उसे तदपि है वरती न स्वामी,
जो मूढ़ है विषय लंपट भूरि कामी ।।४४।।

लोहा सुवेष्ठित रहे यदि वस्त्र से जो,
होगा नहीं कनक पारस संग से ओ।
तो संग से सहित जो तप भी करेंगे,
ना आत्मको परमपूत बना सकेंगे ॥४५॥

दावा यथा वनज हो वन को जलाता,
भाई तथा तप, सही तन को जलाता।
सम्यक्त्व पूर्ण तप की महिमा यही है,
देवादि-देव जिनने जग को कही है ॥४६॥

आशा निवास जिसमें करती नहीं है,
सम्यक्त्व-बोध-युत जो तप ही सही है।
ऐसा सदैव कहती प्रभु सन्त वाणी,
तृष्णा मिटे, झटिति पी अति-शीत-पानी ॥४७॥

साधु समाधि भावना

साधु समाधि करना भव मुक्त होना,
पा कीर्ति पूजन, गुणी बन, दुःख खोना।
ऐसा जिनेश कहते शिव मार्ग-नेता,
बेत्ता बने जगत के मन-अक्ष-जेता ॥४८॥

ये आधि व्याधि समुपाधि सभी अनादी,
से आ रही, पर मिली न निजी समाधि।
चाहूं समाधि, नहिं नाक नहीं किसी को,
चाहें सभी चतुर चेतन भी इसी को ॥४९॥

मानी नहीं मुनि समाधि करा सकेगा,
तो वीरदेव निजको वह क्या ? लखेगा।
सम्मान मैं न उनका मुनि हो करूंगा,
शुद्धात्म को नित नितान्त अहो स्मरूंगा ॥५०॥

बैराग्य का प्रथम पाठ अहो पढ़ाता,
पश्चात् प्रभो प्रथम देव बने प्रमाता।
मैं भी समाधि सधने बनता विरागी,
ऐसी मदीय मन में वर ज्योति जागी ॥५१॥

लाली लगे करलता अति शोभती है,
शोभे जिनेन्द्र स्तव से मम भारती है।
होता पराग वश वात सुगंध वाही,
शोभा तभी मुनि करे मुनि की समाधि ॥५२॥

है भव्य कौमुद शशी जगमें समाधि,
है कामधेनु सुरपादप से अनादि।
कैसे मुझे यह मिले? कब तो मिलेगी,
हे! वीर देव कब ज्ञान कली खिलेगी ॥५३॥

वैय्यावृत्य भावना

राजा प्रजा हित करे परस्वार्थ त्यागे,
देता प्रकाश रवि है कुछ भी न मांगे।
कर्तव्यमान कर तू कर साधु सेवा,
पाले पुनः परम पावन बोध मेवा ॥५४॥

जो साधु सेवक नहिं उन मानियों को,
चाहूं न मैं नित भजूं मुनि सज्जनों को।
क्या चाहता कृपण को परिवार प्यारा,
क्या प्यार से कुमुदने रवि को निहारा ॥५५॥

जो पूर्ण पूरित दयामय भाव से है,
औ दूर भी विमलमानस मान से हैं।
सेवा सुसाधु जन की करता यहां है,
होता सुखी वह अवश्य जहां तहां है ॥५६॥

ये साधु सेवक कहीं मिलते यहां है,
जो जात रूप धरते जगमें अहा है।
प्रत्येक नाग मणि से कब शोभता है,
प्रत्येक नाग कब मौक्तिक धारता है ॥५७॥

जैसा सरोज अलिसे सब को सुहाता,
उद्योग से जगन में यश देश पाता।
वैसा विराग मुनि से यह साधु सेवा,
होती सुशोभित अतीव विभो सदैवा ॥५८॥

मैं काय से वचन से मन से सदैवा,
सौभाग्य मान करता बुध साधु सेवा।
होऊं अबन्ध भवबन्धन शीघ्र टूटे,
विज्ञान की किरण मानस-मध्य फूटे ॥५९॥

अर्हंत भक्ति भावना

बाधा बिना सहज से जिनसे निहारे,
जाते अनागतगतागत भाव सारे।
शुद्धात्म में निरत जो जिन देव ज्ञानी,
वे विश्व पूज्य जयवन्त रहें अमानी ॥६०॥

हो पूर्व इन्द्रियजयी जितकाम आप,
पा के अनन्त सुख को तज पाप ताप।
क्रीड़ा सदैव करते शिव नारि साथ,
जोड़ूं तुम्हें सतत हाथ अनाथ नाथ ॥६१॥

पीयूष पावन पवित्र पयोध धारा,
ज्यों तृप्त भूमितल को करती सुधारा।
त्यों शांति दो दुखित हूं भवताप से जो,
है प्रार्थना मम विभो! बस आपसे यों ॥६२॥

हो मोह सर्व, तुमहो गरुडेन्द्र नामी,
हो, मुक्ति पन्थ-अधिनायक हो अमानी।
स्वामी ! निरंजन, न अंजन की निशानी,
पूजूं तुम्हें बन सकूं द्रुत दिव्य ज्ञानी ॥६३॥

है आदि में स्वमन को फिर मार मारा,
है आदिनाथ तुमने तज भोग सारा।
कामारि हो इसलिए जग में कहाते,
स्वामी ! सुशीघ्र मम क्यों न व्यथा मिटाते ॥६४॥

वे शान्त, सन्त, अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
वन्दूं उन्हें निरभिमान स्वभाव धाता।
होऊं प्रवीण फलतः पल में प्रमाता,
गाता सुगीत 'जिनका' वह सौख्य पाता ॥६५॥

आचार्य स्तुति भावना

इच्छा नहीं भवन की रखते कदापि,
आचार्य ये न वन से डरते प्रतापी।
होते बिलीन निज में विधि पंक धोते,
पूजो इन्हें समय क्यों तुम व्यर्थ खोते ॥६६॥

शास्त्रानुसार चलते सबको चलाते,
पाते स्वकीय सुख को पर में न जाते।
ये राग-रोष तजते सब की उपेक्षा,
मैं तो अभी कुछ रखूं उनकी अपेक्षा ॥६७॥

आचार्य देव मुझ को कुछ बोध देवो,
रक्षा करो शरण में शिशु शीघ्र लेओ।
क्या दिव्य अंजन प्रकाश नहीं दिलाता,
क्या शीघ्र नेत्र गत-धूल नहिं मिटाता ॥६८॥

ये योग में अचल मेरु बने हुए हैं,
ले खंग कर्म रिपु को दुख दे रहे हैं।
आचार्य तो अमृत पान करा रहे हैं,
ये मेघ हैं हम मयूर सुखी हुए हैं ॥६९॥

हो जेष्ठ में नित नहीं रवि ओ प्रतापी,
संतप्त पूर्ण करता जग को कुपापी।
आचार्य कोटि शत भास्कर तेजवाले,
देते सदा सुख हमें समदृष्टिवाले ॥७०॥

आचार्य को विनय से उरमें बिठालूं,
मैं पूज्यपाद रजको शिर पे चढ़ालूं।
हे मित्र! मोक्ष मुझको फलतः मिलेगा,
विश्वास है यह नियोग नहीं टलेगा ॥७१॥

बहुश्रुत भक्ति भावना

ज्ञाता बने समय के निज गीत गाते,
तो भी कदानि मद को मन में न लाते।
वे ही अवश्य उवज्ञाय वशी कहाते,
भाई उन्हें स्मरण में तुम क्यों न लाते ॥७२॥

कालुष्य भाव रति राग मिटा दिया है,
आत्मावलोकन तथा जिनने किया है।
पूजूं भजूं नित उन्हें दुख को तजूंगा,
विज्ञान से सहज ही निजको सजूंगा ॥७३॥

तारा समूह नभ में जब दीख जाता,
दोषी शशि न दिन में निशि में सुहाता।
पै दोष मुक्त उवज्ञाय सदा सुहाते,
हे श्रेष्ठ! इष्ट शशि से जिनयों बताते ॥७४॥

स्वाध्याय से चपलता मन की घटा दी,
काषायिकी परिणति जिनने मिटा दी।
पावे सुशीघ्र उवझाय स्वसंपदावे,
आवे न लौट भवमें गुरुयों बतावे ॥७५॥

साथी बना कुमुद का शशि पक्ष पाती,
भाई सरोज दलका का वह है अराती।
पै साम्यधार उवझाय सुखी बनाते,
हैं विश्व को, इसलिये सबको सुहाते ॥७६॥

वे वैद्य लौकिक शरीर इलाज जाने,
ये वैद्यराज भवनाशक हैं सयाने।
हैं वन्द्य पूज्य शिव पन्थ हमें बताते,
निः स्वार्थ पूर्ण निज जीवन को बिताते ॥७७॥

प्रवचन भक्ति भावना

था है जिनागम रहे जयवन्त आगे,
पूजे इसे तुम सभी उर बोध जागे।
पाओ कदापि फिर ना भय दुख नाना,
हो मोक्ष लाभ भव में फिर होन आना ॥७८॥

आता बसन्त वन में वन फूल जाता,
नाना प्रकार रस पी दुख भूल जाता।
पीऊं जिनागम सुधा चिर काल जीऊं,
दैवादि शास्त्र मदिरा उसको न पीऊं ॥७९॥

निष्पक्ष हो श्रमण आगम देखता है,
शुद्धात्म को सहज से वह जानता है।
जाके निवास करता निज धाम में जो,
संदेह विस्मय नहीं इस काम में हो ॥८०॥

आधार ले अयि ! जिनागम पूर्ण तेरा,
है भव्य जीव करते शिव में बसेरा।
मैं भी तुझे इसलिए दिन रैन ध्याऊं,
धारूं तुझे हृदय में सुख चैन पाऊं।।८१।।

ज्ञाता नहीं समय का दुख ही उठाता,
ओ ना कभी विमल केवल-ज्ञान-पाता।
राजा भले वह बने विधि क्यों न पाले,
भाई न खोल सकता वह मोह ताले।।८२।।

श्रद्धा समेत जिन आगम को निहारे,
जो भी प्रभो हृदय में समता सुधारे,
वे ही जिनेन्द्र पद का द्रुत लाभ लेते,
संसार का भ्रमण त्याग विराम लेते।।८३।।

षड् आवश्यक भावना

हो सूत्र में कुसुम सज्जन कण्ठ जाता,
निर्दोष ही कनक आदर नित्य पाता।
जैसी समादरित गाय सुधी जनों से,
वैसी सदीव समता मुनि सज्जनों से।।८४।।

वर्षा हुई कृषक तो हल जोत लेगा,
बोथा असामयिक बीज नहीं फलेगा।
तू देव वंदन अकाल अरे ! करेगा,
होगा न, मोक्ष तुझको भव में फिरेगा।।८५।।

राजा सशस्त्र रणसे जय लूट लाता,
हो दान्त भोजन करो अति स्वाद आता।
सम्यक् जिनेन्द्र स्तुति भी सुख को दिलाती,
भाई निजानुभव पेय पिला जिलाती।।८६।।

ज्यों वात ज्यों सरित ऊपर हो चलेगा,
हो शीत, शीघ्र सबके मनको हरेगा।
सिद्धान्त का वर समागम पा, विधाता,
आत्मा, अवश्य बनता सुख पूर्ण पाता ॥८७॥

प्राची प्रभात जब रागमयी सुहाती,
तो अंग अंग लगता वनिता सुहाती।
पै रागसे समणुरंजित काय क्लेश,
होता सुशोभित नहीं सुख हो न लेश ॥८८॥

दुर्वेदना हृदय की क्षण भाग जाती,
संवेदना स्वयम की झट जाग जाती।
ऐसी प्रतिक्रमण की महिमा निराली,
तू धार शीघ्र इसको बन भाग्य शाली ॥८९॥

धर्म प्रभावना भावना

भाई सुनो मदन से मन को बचाओ,
संसार के विषय में रुचि भी न लाओ।
पावो निजानुभव को निज को जगाओ,
सद्धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो ॥९०॥

संसार के विभव वित्त असार सारे,
सागार भी सतत यों मन में विचारे।
रोगी दुखी क्षुधित पीड़ित ज्यों विचारें,
दे, अन्न पान उनके दुखको निवारें ॥९१॥

हे वीर देव! तव सेवक धर्म सेवें,
होवें ध्वजा विमल धर्म प्रसार में वे।
सम्यक्त्व बोध व्रत से निज को सजावे,
ज्वाला बने कुमत कानन को जलावे ॥९२॥

अच्छा लगे तिलय से ललना ललाट,
है साम्य से श्रमणता लगती विराट।
होता सुशोभित सरोवर कंज होते,
सद् भावना वश मनुष्य प्रशस्थ होते ॥६३॥

गंगा प्रदान करती बस शीत पानी,
तो गाय दूध दुहती जगमें सयानी।
चाहूं इन्हें, न इनसे न प्रयोजना है,
देती निजामृत जिनेन्द्र प्रभावना है ॥६४॥

संसार सागर असार अपार खारा,
कोई न धर्म बिन है तुम को सहारा।
नौका यही तरण-तारण मोक्ष दात्री,
ये जा रहे कुछ गए उस पार यात्री ॥६५॥

वात्सल्य भावना

गो वत्स में परम हार्दिक प्रेम जैसा,
साधर्मि में तुम करो यदि प्रेम वैसा।
शुद्धात्म को सहज से द्रुत पा सकोगे,
औ मोक्ष में अमित काल बिता सकोगे ॥६६॥

वात्सल्य हो उदित ओ उरमें जभी से,
हैं क्रूर भाव मिटते सहसा तभी से।
भानू उगे गगन भू उजले दिखाते,
क्या आप तामस निशा तब देख पाते ॥६७॥

निर्दोष हो अनल से झट लोह पिण्ड,
वात्सल्य से विमल आतम हो अखण्ड।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६८॥

वात्सल्य तो जनम से तुम में भरा था,
सौभाग्य था सुकृत का झरना भरा था।
त्रैलोक्य पूज्ज जिन देव तभी हुए हो,
शुद्धात्म में प्रभव वैभव पा लिए हो॥६६॥

बन्धुत्व को जलज के प्रति भानु धारा,
मैत्री रखे सुलज में वह दुग्ध धारा।
स्वामी! परन्तु जगके सब प्राणियों में,
वात्सल्य हो न मम केवल मानवों में॥१००॥

उन्मत्त होकर कभी मन का न दास,
हो जा उदास सबसे बन वीर दास।
वात्सल्य रूप सर में डुबकी लगाले,
ले ले सुनाम 'जिनका' प्रभुगीत गाले॥१०१॥

गुरु स्तुति

आशीश लाभ यदि मैं तुम से न पाता,
तो 'भावना शतक' काव्य लिखा न जाता।
हे! ज्ञान सागर गुरो! मुझको सम्भालो,
विद्यादि सागर बना तुम में मिलालो॥

मंगल कामना

विभो! अर्ज मंजूर हो, सुखी रहें सब जीव।
ध्यावे निजके विषय को, तज के विषय सदीव॥१॥

साधु बनो न स्वादु बनो, साध्य सिद्ध हो जाए।
गमनागमन तभी मिटे, पाप पुण्य खो जाए॥२॥

रत्नत्रय में रत रहो, रहो राग से दूर।
विद्यासागर तुम बनो, सुख पाओ भरपूर॥३॥

रहो स्वपरोपकार में, रत निश्चय उरधार।
चिर अपरिचित चित्त में, चिर पुनि करो विहार ॥४॥

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
शशि रवि से भी अधिक है, तुम में दिव्य प्रकाश ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणा कर करुणा करो, कर से दो आशीश ॥६॥

ज्ञानाराधन नित करूं, मुझ में कुछ नहीं ज्ञान।
दोष यहां यदि कुछ मिले, शोध पढ़ो धीमान ॥७॥

बाहुबली के चरण में वर्षाहोग सहर्ष।
सुहाग नगरी (फिरोजाबाद) में अहो स्थापित कर
इस वर्ष ॥८॥

द्वय त्रि शून्य द्वय वर्ष की श्रावन की शित चौथ।
जैन नगर में लिख दिया, निजानन्द का स्रोत ॥९॥

॥ इति भावना शतकम् ॥

ज्ञानोदय

हे जिनवर ! तव चरण समागम सुर सुख शिव सुख शान्त रहा,
तव गुण गण का सतत स्मरण ही परमागम निर्भ्रांत रहा।
विषय रसिक हैं कुधी रहे है अनुपम अधिगम नहीं मिले,
विरहित रति से रहूं इसी से बोध कला उर सही खिले ॥१॥

नभ में रविसम यतनशील हैं यति नायक सुखकारक हैं,
ज्ञान-भाव से भरित-शील हैं श्रुतिकारक-दुखहारक हैं।
सकल विश्व को सकल ज्ञान से जान रहे शिवशंकर हैं,
गति-मति-रति से रहित रहे हैं हम सब उनके किंकर हैं ॥२॥

दुख में, सुख में तथा अशुभ-शुभ में नियमित रखते समता,
शुचितम चेतन को नमते हैं श्रमण-श्रमणता से ममता।
यम-संयम दम शम भावों की लेता सविनय शरण अतः,
वभाव-भावों-दुर्भावों का क्षरण शीघ्र हो मरण स्वतः ॥३॥

मृदुल विषयमय लता जलाती शीतल तम हिमपात वही,
शान्त शारदा, शरण उसी की ले जीता दिन-रात सही।
शतक परीषह जय कहता बस मुनिजन, बुधजन मन हरसे,
मूल सहित सब अघ संचरसे ज्ञान-मेघ फिर झट बरसे ॥४॥

उदय असाता का जब होता उलटी दिखती सुखदा है,
प्रथम भूमिका में ही होती क्षुधा वेदना दुखदा है।
समरस रसियां ऋषि समता से सब सहता निज ज्ञाता है,
सब का सब यह विधि फल तो है समय सार 'सुन', गाता है ॥५॥

क्षुधा परीषह सुधीजनों को देता सुदगति सम्पद है,
और मिटाता नियमरूप से दुस्सह विधिफल अपाद हैं।
कुधीजनों को किन्तु पटकता कुगति कुण्ड में कष्ट ! रहा !
विषय रसिक हो दुःखी जगत है सुखी जगत कह स्पष्ट रहा ॥६॥

कनक, कनक पाषाण नियम से अनल योग से जिस विध है,
क्षुधा परीषह सहते बनते, शुचितम मुनिजन उस विध है।
क्षुधा विजय सो काम विजेता मुनियों से भी वन्दित है,
शिव-पथ पर पाथेय रहा है जिन मत से अभिनन्दित है ॥७॥

आगम के अनुकूल किया यदि किसी साधु ने अनशन है,
असमय में फिर अशन त्याज्य है अशन कथा तक अशरण है।
वीतराग सर्वज्ञ देव ने आगम में यों कथन किया,
श्रवण किया कर सदा उसी का, मनन किया कर, मथन जिया ॥८॥

स्वर्णिम, सुरभित, सुभग, सौम्यतन सुरपुर में वर सुर-सुख है,
उन्हें शीघ्र से मिलता शुचितम शाश्वत-भास्वत शिव-सुख है।
वीतराग विज्ञान सहित जो क्षुधा परीषह सहते हैं,
दूर पाप से हुए आप हैं बुधजन जग को कहते हैं ॥९॥

पाप-ताप का कारण तन की ममता का बस वमन किया,
शमी-दमी, मतिमान मुनि ने समता के प्रति नमन किया।
विमल बोधमय सुधा चाव से तथा निरन्तर पीता है,
उसे तृषा फिर नहीं सताती सुखमय जीवन जीता है ॥१०॥

कषाय रिपु का शमन किया है सने स्वरस में गुणी बने।
नम्र नीत, भवभीत रीत हो अघ से, तप के धनी बनें।
मुक्ति रमा आ जिनके सम्मुख नाच, नाचती मुदित हुई,
मनो इसीसे तृषा जल रही ईर्षा करती कुपित हुई ॥११॥

निरालम्ब हो, स्वावलम्ब हो, जीवन जीते मुनिवर हैं,
कभी तृषा या अन्य किसी वश कुपित बनें ना; मतिवर हैं।
श्वान भौंकते सौ-सौ मिलकर पीछे-पीछे चलते हैं,
विचलित कब हो गजदल आगे ललित चाल से चलते हैं।।१२।।

व्यय-उद्भव, ध्रुव-लक्षण से जो परिलक्षित है खरा रहा,
चिन्मय गुण से रचा गया है, समरस से है भरा रहा।
मनो कभी मुनि तृषित हुआ औ निजमें तब अवगाहित हो,
जैसा सागर में शशि होता निश्चित सुख से भावित हो।।१३।।

रव-रव नरकों में वे नारक तृषित हुए हैं, व्यथित हुए,
सदय हृदय ना अदय बने हैं प्राण कण्ठगत मथित हुए।
उस जीवन से निज जीवन की तुलना कर मुनि कहते हैं,
वहां सिन्धु सम दुःख रहा तो यहां बिन्दु हम सहते हैं।।१४।।

शीत-शीन का अविरल-अविकल बहता जब है अनिल महा,
ऐसा अनुभव जन-जन करते अमृत मूल्य का अनल रहा।
पग से शिर तक कपड़ा पहना कप-कप कपता जगत रहा,
किन्तु दिगम्बर मुनि-पद से नहिं विचलित हो मुनि-जगत रहा।।१५।।

तरुण-अरुण की किरणावलि भी मन्द पड़ी कुछ जान नहीं,
शिशिर वात से ठिठुर शिथिल हो भानु उगा पर; भान नहीं।
तभी निशा वह बड़ी हुई है लघुतम दिन भी बना तभी,
पर; परवश मुनि नहीं हुआ है सो मम उर में ठना अभी।।१६।।

यम, दम, शम, सम से मुनि का मन अचल हुआ है विमल रहा,
महातेज हो धधक रहा है जिसमें तप का अनल महा।
बाधा क्या फिर बाह्य गात पे होता हो हिमपात भरे,
जीवन जिनका सुखित हुआ हम उन पद में प्रणिपात करें।।१७।।

भय लगता है नभ में काले जल वाले घन डोल रहे,
बीच-बीच में बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।
वज्रपात से चूर हो रहे अचल, अचल भी चलित हुए,
फिर भी निश्चल मुनि रहते हैं शिव मिलता, सुख फलित हुए ।।१८।।

चण्ड रहा मार्तण्ड ग्रीष्म में विषयी जन को दुखद रहा,
आत्मजयी ऋषि वशीजनों को दुखद नहीं शिव सुखद रहा।
प्रखर, प्रखरतर किरण प्रभाकर की रुचिकर ना कण-कण को,
कोमल-कोमल कमलदलों को खुला खिलाती क्षण-क्षण को ।।१९।।

सरिता, सरवर सारे सूखे सूरज शासन सक्त रहा,
सरसिज, जलचर कहां रहें फिर ? जीवन साधन लुप्त रहा।
इतनी गरमी घनी पड़ी पर; करते मुनि प्रतिकार नहीं,
शान्ति सुधा का पान करे नित तन के प्रति ममकार नहीं ।।२०।।

सुरमा, काजल, गंगा का जल, मलयाचल का चन्दन है,
शरद चन्द्र की शीतल किरणें मणि माला, मनरंजन है।
मन में लाते तक ना इनको शान्त बनाने तन-मन को,
मुनि कहलाते पूज्य हमारे जिनवर कहते भविजन को ।।२१।।

महाप्रतापी, भू-नभ तापी अभिषापी रवि बना रहा,
वन हारे, तरु सारे-खारे, पत्र फूल के बिना अहा !
किन्तु पराजित नहीं मुनीश्वर जित-इन्द्रिय हो राजित हैं,
हृदय-कमल पर उन्हें बिठाऊं त्रिभुवन में आराधित हैं ।।२२।।

तन से, मन से और वचन से उष्ण परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहें,
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे ।।२३।।

विषयों को तो त्याग-पत्र दे व्रतधर शिवपथगामी हैं,
मत्कुण मच्छर काट रहे अहि, दया-धर्म के स्वामी हैं।
कभी किसी प्रतिकूल दशा में मुनि मानस नहि कुलषित हो,
शुचितम मानस सरवर-सा है सदा निराकुल विलसित हो ।।२४।।

चराचरों से मैत्री रखते कभी किसी से वैर नहीं,
निलय दया के बने हुए हैं नियमित चलते स्वैर नहीं।
तन से, मन से और वचन से करें किसी को व्यथित नहीं,
सुबुध जनों से पूजित होते मान-गान से सहित सही ।।२५।।

मत्कुण आदि रुधिर पी रहे पी लेने दो जीने दो,
तव शुभ स्तुति की सुधा चाव से मुझे पेट भर पीने दो।
तीन लोक के पूज्य पितामह ! इससे मुझको व्यथा नहीं,
यथार्थ चेतन पदार्थ मैं हूं तन से 'पर' मम कथा यही ।।२६।।

दंस मसक ये कीट पतंगे पल भर भी तो सुखित नहीं,
पाप पाक से पतित पले हैं क्षुधा, तृषा से दुखित यहीं।
कब तो इनका भाग्य खुले कब निशा टले, कब उषा मिले,
सन्त सदा यों चिन्तन करते दिशा मिले, निज दशा खिले ।।२७।।

निरा, निरापद, निजपद दाता यही दिगम्बर पद साता,
पाप-प्रदाता आपद-धाता शेष सभी पद गुरु गाता।
हुए दिगम्बर अम्बर तजकर यही सोच कर मुनिवर हैं,
शिव पथ पर अविरल चलते हैं हे जिनवर ! तव अनुचर हैं ।।२८।।

अपने ऊपर पूर्ण दया कर विषय-वासना त्याग दिया,
नग्न परीषह सहते तजकर वस्त्र, निजी में राग किया।
अनुपम, अव्यय वैभव पाते लौट नहीं भव में आते,
वस्त्र वासना जो ना तजता भ्रमता भव-भव में तातें ।।२९।।

यहां अचेतन पुद्गल आदिक निज-निज गुण के केतन हैं,
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं, ज्ञान निलय हैं, चेतन हैं।
यथार्थ में तो पदार्थ दल से भरा जगत् यह शाश्वत है,
निरावरण हैं, निरा दिगम्बर स्वयं आप 'बस' भास्वत हैं॥३०॥

बिना घृणा के नग्नरूप धर मुनिवर प्रमुदित रहते हैं,
भव दुःखहारक, शिव सुख कारक, दुस्सह परिषह सहते हैं।
लालन-पालन, लाड़-प्यार से सुत का करती ज्यों जननी,
कुलदीपक यदि बुझता है तो रुदन मचाती है गुणिनी॥३१॥

इन्द्रिय जिनसे चंचल होती सब विषयों से निरत हुए,
इन्द्रियविजयी, विजितमना हैं निशि दिन निज में विरत हुए।
अविरति रति से मौन हुए हैं अरति परीषह जीत रहें,
जिनवर वाणी करुणाकरकर कहती यों भवभीत रहें॥३२॥

सड़ा-गला शव मरा-पड़ा जो बिना गड़ा, अधगड़ा जला,
भीड़ चील की चीर-चीरकर जिसे खा रही हिला-हिला।
दृश्य भयावह लखते, सुनते गजारिगर्जन मरघट में,
किन्तु ग्लानि, भय कभी न करते, रहते मुनिवर निज घट में॥३३॥

विषय वासना जिनसे बढ़ती उन शास्त्रों से दूर रहें,
विराग बढ़ता जिनसे उनको पढ़ें साम्य से पूर रहें।
विगत काल में भोगे भोगों कभी न मन में लाते हैं,
प्राप्तकाल सब सुधी बिताते निजी रमन में तातें हैं॥३४॥

आगम के अनुकूल साधु हो अरति परीषह सहते हैं,
कलुषित मन की भाव-प्रणाली मिटती गुरुवर कहते हैं।
प्रतिफल मिलता दृढ़तम, शुचितम दिव्य दृष्टि झट खुलती है,
नियम रूप से शिव सुख मिलता ज्योत्स्ना जगमग जलती है॥३५॥

विशाल विस्फारित मंजुलतम चंचल लोचन वाली हो,
कामदेव के मार्दव मानस को भी लोभन वाली हो।
मुख पर ले मुस्कान मन्दतम गजसम गमनाशीला हो,
उस प्रमदा के वश मुनि ना हो अद्भुत चिन्मय लीला हो।।३६।।

सदा मुक्त, उन्मुक्त विचरती मत्त स्वैरिणी मोहित हैं,
तभी कहाती प्रमदा जग में बुधजन से अनुमोदित हैं।
वन में, उपवन में, कानन में स्मित वदना कुछ बोल रही,
निर्विकार यति बने रहे वे उनकी दृग अनमोल रही।।३७।।

लाल कमल की आभा सी तन वाली हैं सुर वनिताएं,
नील कमल सम विलसित जिनके लोचन हैं सुख-सुविधाएं।
किन्तु स्वल्प भी विषय वासना जगा न सकती मुनि मन में,
सुखदा, समता सती, छवीली क्योंकि निवसती है उनमें।।३८।।

शीलवती है, रूपवती है, दुर्लभतम है वरण किया,
समता रमणी से निशिदिन जो श्रमण बना है रमण किया।
फिर किस विध वह नश्वर को जो भवदा! दुःखदा वनिता है,
कभी भूलकर क्या चाहेगा? पूछ रही यह कविता है।।३९।।

कठिन कार्य है खरतर तपना करने उन्नत तपगुण को,
पूर्ण मिटाने भव के कारण चंचल मन के अवगुण को।
दया वधू को मात्र साथ ले वाहन बिन मुनि पथ चलते,
आगम को ही आंख बनाये निर्मद जिनके विधि हिलते।।४०।।

सभी तरह के पाद त्राण तज नग्न पाद से ही चलते,
चलते-चलते थक जाते पर निज पद में तत्पर रहते।
कंकर, कंटक चुभते-चुभते, लहुलुहान पद लोहित हो,
किन्तु यही आश्चर्य रहा है मुनि का मन ना लोहित हो।।४१।।

कोमल-कोमल लाल-लालतर युगल पाद तल कमल बने,
अविरल, अविकल चलते-चलते सने रुधिर में तरल बने।
मन में ला सुकुमार कथा को अशुचि काय में मत रचना,
मार-मार कर महा बनो तुम यह कहती रसमय रचना॥४२॥

बोधयान पर बैठ कर रहे यात्रा यतिवर यात्री हैं,
त्याग चुके हैं, भूल चुके हैं रथवाहन, करपात्री हैं।
पथ पर चलता तन को केवल देख रहे पथ दर्शाते,
सदा रहें जयवन्त सन्त वे नमूं उन्हें मन हर्षाते॥४३॥

आत्मबोध पा पूज्य साधु ने चंचल मन को अचल किया,
मोह लहर भी शान्त हुई है मानस सरवर अमल किया।
बहुविध दृढ़तम आसन से ही तन को संयत बना लिया,
जीव दया का पालन फलतः किस विध होता जना दिया॥४४॥

संयम बाधक चरित मोह को पूर्ण मिटाने लक्ष बना,
बिना आलसी बने निजी को पूज्य बनाने दक्ष बना।
सरिता, सागर, सरवर तट पर दृढ़तम आसन लगा दिया,
त्याग वासना, उपासनारत 'ऋषि की जय' तम भगा दिया॥४५॥

आसन परिषह का यह निश्चित अनुपम अद्भुत सुफल रहा,
हुए, हो रहे, होंगे जिनवर इस विन सब तप विफल रहा।
बुधजन, मुनिजन से पूजित जिन ! अहोरात तव मत गाता,
अतः आज भी भविकजनों ने धारा उसको नत माथा॥४६॥

भय लगता है यदि तुझको अब विषयी जन में प्रमुख हुआ,
यह सुन ले तू चिर से शुचितम निज अनुभव से विमुख हुआ।
दृढ़तम आसन लगा आप में होता अन्तर्धान वही,
ऋषिवर भी आ उन चरणों में नमन करें गुणगान यहीं॥४७॥

श्रुतावलोकन आलोड़न से मुनि का मन जब थक जाता,
खरतर द्वादशविध तप तपते साथी तन भी रुक जाता।
आगम के अनुसार निशा में शयन करे श्रम दूर करे,
फलतः हे जिन! तव सम अतिशय पावे सुख भरपूर खरे॥४८॥

भू पर अथवा कठिन शिला पर काष्ठ फलक पर या तृण पे,
शयन रात में अधिक याम तक, दिन में नहिं, संयम तन पे।
ब्रह्मचर्य व्रत सुदृढ़ बनाने यथाशक्ति यह व्रत धरना,
जित निद्रक हो हितचिन्तक हो अति निद्रा मुनि मत करना॥४९॥

मुनि पर यदि उपसर्ग कष्ट हो हृदय शून्य उन मानव से,
धर्म-भाव से रहित, सहित हैं वैर-भाव से दानव से।
किन्तु कभी वे निशि में उठकर गमन करे अन्यत्र नहीं,
अहो अचल दृढ़ हृदय उन्हीं का दर्शन वह सर्वत्र नहीं॥५०॥

सप्तभयों से रहित हुआ है जित निद्रक है श्रमण बना,
शय्या परिषह वही जीतता दमनपना पा शमन पना।
निद्रा विजयी बनना यदि है इच्छित भोजन त्याग करो,
इन्द्रिय विजयी बनो प्रथम तुम रसतज निज में राग करो॥५१॥

यथासमय जो शयन परीषह तन रति तजकर सहता है,
निद्रा को ही निद्रा आवे मुनि मन जागृत रहता है।
समुचित है यह प्रमाद तज रवि उदयाचल पर उग आता,
पता नहीं कब कहां भागकर उडुदल गुप लुप छुप जाता॥५२॥

असभ्य पापी निर्दय जन वे करते हो उपहास कभी,
किन्तु न होता मुनि के मन की उज्जवलता का नाश कभी।
तुष्ट न होते समता-धारक सुधीजनों के वन्दन से,
रुष्ट न होते शिष्ट साधुजन कुधी जनों के निन्दन से॥५३॥

क्रोध जनक हैं कठोर, कर्कश, कर्ण कटुक कुछ वचन मिले,
निहार वेला है सुनने को अपने पथ पर श्रमण चले।
सुनते भी पर बधिर हुए से आनाकानी कर जाते,
सहते हैं आक्रोश परीषह अबल, 'सबल होकर' भाते ।।५४।।

इन्द्रियगण से रहित रहा हूं मल से रस से रहित रहा,
रहा इसी से पृथक् वचन से चेतन बल से सहित रहा।
निन्दन से फिर हानि नहीं है विचार करता इस विध है,
प्रहार करता जड़विधि पे मुनि निहारता निज वहुविध है।।५५।।

सही मार्ग से भटक चुके हैं चलते-चलते त्रस्त हुए,
भील, लुटेरों, मतिमन्दों से घिरे हुए दुःखग्रस्त हुए।
उनका न प्रतिकार तथापि करते यति जयवन्त रहें,
समता के हैं धनी-गुनी हैं पापों से भयवन्त रहें।।५६।।

मोह-भाव से किया हुआ था पाप पाक यह उदित हुआ,
पर का यह अपराध नहीं है उपादान खुद घटित हुआ।
पर का इसमें हाथ रहा हो निमित्त वह व्यवहार रहा,
अविरति-हन्ता नियम नियन्ता कहते जिन मत सार रहा।।५७।।

काया लाली रही उषा की अशुचिराशि है लहर रही,
भव दुःख कारण, कारण भ्रम का शरण नहीं है जहर रही।
इसका यदि वध हो तो हो पर इससे मेरा नाश कहां?
बोध-धाम हूं चरण सदन हूं दर्शन का अवकाश यहां।।५८।।

बहुविध विधिका संवर होने में हित निश्चित निहित रहा,
पापास्रव में कारण होता शिवपथ में वह अहित रहा।
अन्ध मन्द मति ! वधक नहीं ये बाह्यरूप में साधक हैं,
पाप पुण्य के भेद जानते कहते मुनिगण-चालक हैं।।५९।।

अशन वसतिकादिकक की ऋषिगण नहीं याचना करते हैं,
तथा कभी भी दीन-हीन बन नहीं पारणा करते हैं।
निजाधीनता फलतः निश्चित लुटती है यह अनुभव है,
पराधीनता किसे इष्ट है वही पराभव, भव-भव है ॥६०॥

निज पद गौरव तज यदि यति हो मनो याचना करते हैं,
दर्पण सम उज्जवल निज पद को पूर्ण कालिमा करते हैं।
शुचितम शशिभी योग केतु का पाकर ही वह शाम बने,
यही सोचकर साधु सदा ये निज में ही अविराम तने ॥६१॥

विना याचना, कर्म उदय से यह घटना निश्चित घटतीं,
किभी सफलता कभी विफलता भेद-भाव बिन बस बटती।
इसीलिए मत यावक वनना भूले कभी बन भ्रान्त नहीं,
याचक बनता नहीं जानता कर्मों का सिद्धान्त सही ॥६२॥

यांचा परिषह विजयी मुनिवर-समाज में मुनिराज बनें,
स्वाभिमान से मंडित जिसविध हो बन में मृगराज तने।
यांचा विरहित यदि ना बनता जीवन का उपहास हुआ,
विरत हुआ पर बुध कहते वह गुरुता का सब नाश हुआ ॥६३॥

अनियत विहार करता फिर भी निर्बल सा ना दीन बने,
तथा किया उपवास तथापि परवश ना! स्वाधीन बने।
भोजन पाने चार्या करता पर भोजन यदि नहिं मिलता,
विषाद करता नहिं पर, भोजन मिला हुआ-सा मुख खिलता ॥६४॥

इस्टमिष्ट रस-पूरित भोजन मिलने पर हो मुदि नहीं,
अनिष्ट नीस मिलने पर भी दुःखित नहीं हो क्षुधित नहीं।
सहित रहा संवेग भाव से सर्व रसों से विरत बना,
चिंतन करता यह सब विधि फल साधु गुणों से भरित बना ॥६५॥

करते श्रुतमय सुधापान हैं द्वादशविध तप अशन दमी,
दमन कर रहे इन्द्रिय तन का कषाय दल का शमन शमी।
केवल दिखते बाहर से ही क्षीण काय हो दुखित रहें,
भीतर से संगीत सुन रहें जीत निजी को मुखित रहें ॥६६॥

जनन जरा औ मरण रोग से श्वास श्वास पर डरता है,
जिसके चरणों में आकर के नमन विघ्न-दल करता है।
दुष्कृत फल है दुस्सह भी है महा भयानक रोग हुआ,
प्रभु-पद-रत मुनि नहिं डरता है धरता शुचि उपयोग हुआ ॥६७॥

सभी तरह के रोगों से जो मुक्त हुए हैं बता रहे,
कर्मों के ये फल हैं सारे, खारे जग को सता रहे।
रोगों का ही मन्दिर तन है अन्दर कितने पता नहीं,
उदय रोग का, कर्म मिटाता ज्ञानी को कुछ व्यथा नहीं ॥६८॥

सुगन्ध चन्दन तैलादिक से तन का कुछ संस्कार नहीं,
वसना भूषण आभरणों से किसी तरह शृंगार नहीं।
फिर भी तन में रोग उगा हो हो पाप कर्म का उदय हुआ,
उसे मिटाने प्रासुक औषध मुनि ले सकता सदय हुआ ॥६९॥

रोग परीषह प्रसन्न मन से जो मुनि सहता ध्रुव ज्ञाता,
सुचिर काल तक सुर सुख पाता अमिट अमित फिर शिव पाता।
अधिक कथन से नहीं प्रयोजन मरण भीति का नाश करो,
सादर परिषह सदा सही बस ! निजी नीति में वास करो ॥७०॥

तृण कंकट पद में वह पीड़ा सतत दे रहें दुखकर हैं,
गति में अन्तर तभी आ रहा रुक-रुक चलते मुनिवर हैं।
उस दुस्सह वेदन को सहते-सहते रहते शान्त सदा,
उसी भांति मैं सहूं परीषह शक्ति मिले, शिव शान्ति सुधा ॥७१॥

खुले खिले हो डाल-डाल पर फूल यथा वे हंसते हैं,
जिनकी पराग पीते अलि-दल चुम्बन लेते लसते हैं।
विषय, विषमतर शूल तृणों से आहत हैं पर तत्पर हैं,
निज कार्यों में बिना विकल हो कहते हमसे तन पर हैं ॥७२॥

कठिन-कठिनतर शयनासन में कंकट पथ पर विचरण में,
सुख ही सुख अवलोकिन होता मुनियों के आचरणन में।
भीतर से बाहर आने को शम सुख सागर मचल रहा,
दुखित जगत को सुखित बनाने यतन चल रहा सकल रहा ॥७३॥

कभी-कभी आकुलता यदि हो मन में तन में वेदन हो,
प्रतिफल हो, 'फल कर्म चेतना' चेतन में पर खेदे न हो।
बिना वेदना प्रथम दशा में कर्मों का वह क्षरण नहीं,
समयसार का गीत रहा यह और सब बाधक शरण नहीं ॥७४॥

निज भावों से भावित भाता भासुर गुणगण शाला है,
परिमल पावन पदार्थ प्यारा अनुभवता रस प्याला है।
फिर यह तन तो स्वभाव से ही मल है मल से प्यार वृथा,
मुनियों से जो वंदित है सुन! शुद्ध-वस्तु की सार कथा ॥७५॥

स्वभाव से ही रहा घृणास्पद रहा अचेतन यह तन है,
पल से मल से भरा हुआ है क्यों फिर इसमें चेतन है?
तन से निशिदिन झरती रहती अशुचि, सुनो जिन श्रुति गाती,
देह राग से श्रमणों की उस विराग छवि ही क्षति पाती ॥७६॥

तपन-ताप से तप्त हुआ तन स्वेद कणों से रंजित हो,
रज कण आकर चिपके फलतः स्नान बिना मल संचित हो।
मल परिषह तब साधु सह रहा सुधा पान वह सतत करें,
नीरस तरु सम तन है जिसका हम सब का सब दुरित हरें ॥७७॥

कंचन काया बन सकती है ऋद्धि-सिद्धि से युक्त रहा,
तन का मल मुनि नहीं हटाता मल से तन अतिलिप्त रहा।
चेतन मैं हूं, चेतन में हूं यथार्थ मल तो मल में है,
कहता जाता कमल कमल में कहने भर को जल में है॥७८॥

अविरत जन या व्रती पुरुष यदि अपने से विपरीत बने,
आदर ना दे, करे अनादर यदि बनते अवनीत तने।
किन्तु मुनीश्वर लोकेषण से दूर हुए भवभीत हुए,
विकार विरहित ललाट उनका रहता वे जग मीत हुए॥७९॥

अमल, समल हैं सकल जीव ये ऊपर, भीतर से प्यारे,
अगणित गुणगण से पूरित सब 'समान' शीतल शुचि सारे।
मैं 'गुरु' तू 'लघु' फिर क्या बनता परिभव-परिषह बुध सहते,
आर्य देव अनिवार्य यही तब मत गहते सुख से रहते॥८०॥

कभी प्रशंसा करे प्रशंसक विनय समादर यदि करते,
नहीं मान-मद मन में लाते, मन को कलुषित नहि करते।
प्रत्युत अन्दर घुस कर बैठा मन-कर्म के क्षय करने,
साधु निरन्तर जागृत रहते निज को शुचि अतिशय करने॥८१॥

निरालसी यति समिति गुप्ति में जब हो रत मन शमन करें,
गणधर आदिक महामना भी उनको मन से नमन करें।
मानी मुनिजन नमनादिक यदि नहिं करते मत करने दो,
अर्थ नहीं उसमें, जिन कहते 'यह परिषह' अघ हरने दो॥८२॥

जिन श्रुत में हैं पूर्ण विशारद सम्मानित हैं बुधगण में,
भाग्य मानकर सदा शारदा रहती जिनके आनन में।
मानहीन हैं, स्वार्थहीन हैं दुःखी जगत को अमृत पिला,
पर मत-तारक-दल में शीतल शशि है यश की अमिट शिला॥८३॥

अन्तराय का अन्त नहीं हो अतुल अमिट बल मुदित नहीं,
जब तक तुममें अनन्त अक्षय पूर्ण ज्ञान हो उदित नहीं।
ज्ञान क्षेत्र में तब तक निज को लघुतम ही स्वीकार करो,
तन-मन-वच से ज्ञान-मान का प्रतिपल तुम धिक्कार करो ॥८४॥

अवलोकन-अवलोड़न करते जिनश्रुत के अनुवादक हैं,
वादीजन को स्याद्वाद से जीते पथ प्रतिपादक हैं।
ज्ञान परीषह सहते मुख से कभी न कहते हम ज्ञानी,
ज्ञान कहां है तुममें इतना महा अधम हो अज्ञानी ॥८५॥

नम्र भाव से ज्ञान परीषह जीत-जी रहे मतिवर हैं,
तत्त्व ज्ञान से मन्न चित्त को किया नियंत्रित यतिवर हैं।
प्रभु पद में रत हुए मुझे भी होने सन्मति दान करें,
निलयगणों के जय हो गुरु की मम गति का अवसान करें ॥८६॥

सहो सदा अज्ञान परीषह नियोग है यह शिव मिलता,
अल्पज्ञान पर्याप्त रहा यदि निज अनुभवता भव टलता।
बहुत दिनों का पड़ा हुआ है सुमेरु सम तृण ढेर रहा,
एक अनल की कणिका से बस ! जल मिटता, क्षण देर रहा ॥८७॥

सत्पथ चलता महाव्रती हो प्रचुर समय वह बीत गया,
इन्द्रिय योगों को वश करके गाता आतम गीत जिया।
किन्तु अभी तक जगी न मुझमें बोध भानु की किरण कहीं,
यूं न सोचता, मुनिवर तजता समता की वह शरण नहीं ॥८८॥

महा मूढ़ है, साधु बना है, शुभकृत जीवन किया नहीं,
भविकजनों को सदुपदेश दे उपकृत अब तक किया नहीं।
महा मलिन मति चिर से तेरी ज्ञान-नीर से धुली नहीं,
सहे वचन यूं 'व्यर्थ साधुता' अभी आंख तब खुली नहीं ॥८९॥

बव करके अशुभोपयोग से जब शुभ शुचि उपयोग धरूं,
अक्षय सुख देने वाले मुनि-गुण-गण का उपभोग करूं।
किस विध फिर मैं हो सकता हूं कुधी, कभी नहिं हो सकता,
सहता यूं अज्ञान परीषह मन का मल वह धो सकता ॥६०॥

ज्ञाना वरणादिक से चिरसे भला-बोध बल मलिन वही,
सहने से अज्ञान परीषह निश्चित होता विमल सही।
उड़-उड़कर आ रज कण चिपके धूमिल फलतः दर्पण हो,
जल से शुचि हो जिनमत गाता इसे सदा नति अर्पण हो ॥६१॥

चिरसे दीक्षित हुआ अभी तक, ऋद्धि नहीं कुछ सिद्धि नहीं,
तथा गुणों में ज्ञानादिक में लेश मात्र भी वृद्धि नहीं।
ऐसा मन में विचार कर मुनि उदासता का दास नहीं,
होकर परवस कभी त्यागता जिन मत का विश्वास नहीं ॥६२॥

जिन शासन से शासित होकर व्रत पालूं अविराम सही,
किन्तु हुआ ना ख्यात जगत में यश फैला ना नाम कहीं।
रहित रहा हो अतिशय गुण से जिन दर्शन यह लगता है,
समदर्शन युत मुनि मन में ना ऐसा संशय जगता है ॥६३॥

अल्प मात्र भी ऐहिक सुख औ इन्द्रिय सुख वह मिला नहीं,
फिर, किस विध निर्वाण समित सुख मुझे मिलेगा भला कहीं।
मुनि हो ऐसा कहता नहिं जिन-मत का गौरव नहिं खोता,
रहा अदर्शन यही परीषह-विजयी होता सुख-जोता ॥६४॥

जिन मत की उन्नति में जिनका जीवन तत्पर लसता है,
उजल सलिल से भरा सरित सा जिनमें दर्शन हसता है।
रहा अदर्शन परिषहजय यह प्रमुख रहा मुनि यतियों का,
उनके चरणों में नित 'नत' हूं विनशन हो चहु गतियों का ॥६५॥

पद-पूजन संपद संविदपा पद-पद होते सुखित नहीं,
निन्दन, आपद, अपयश में फिर साधु कभी हो दुखित नहीं।
दुस्सह सब परिषह सहने में सक्षम ऋषिवर धीर सभी,
आत्म ध्यान के पात्र, ध्यान कर पाते हैं भव तीर तभी ॥९६॥

दुष्कर तप से नहीं प्रयोजन संयम से यदि रहित रहा,
परिषय जय बिन नहीं सफलता यद्यपि व्रत से सहित रहा।
यम-दम-शम-सम सकल व्यर्थ हैं समदर्शन यदि ना होता,
पाप पंक से लिपा कलंकित जीवन मौलिक नहिं, थोथा ॥९७॥

शीत परीषह, उष्ण परीषह एक समय में कभी न हों,
चर्य्या शय्या तथा निषद्या एक साथ ये सभी न हों।
ऐसा जिनवर का आगम है हम सबको यह बता रहा,
अनुभव कहता, स्ववश परीषह सहो सही, फिर व्यथा कहां ॥९८॥

एक साथ उन्नीस परीषह मुनि जीवन में हो सकते,
समता से यदि सहो साधु हो विधिमल पल में धो सकते।
सन्त साधुओं तीर्थंकरों ने सहे परीषह सिद्ध हुए,
सहूं निरन्तर उन्नत तप हो समझूं निज गुण शुद्ध हुए ॥९९॥

पुण्य-पाक है सुरपद संपद सुख की मन में आस नहीं,
आतम का नित अवलोकन हो दीर्घ काल से प्यास रही।
तन से, मन से और वचन से तजूं अविद्या हाला है,
ज्ञान-सिन्धु को मथकर पीऊं समरस विद्या, प्याला है ॥१००॥

गुरु स्मृति

कुन्द-कुन्द को नित नमूं हृदय कुन्द खिल जाय,
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय।
तरणि ज्ञान सागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश,
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥

मंगल कामना

समय-समय 'पर', समय में सविनय समता धार।
सकल संग सम्बन्ध तज रम जा सुख पा सार॥
भव-भव भववन भ्रमित हो भ्रमता, भ्रमता काल।
बीता अनन्त वीर्य बिन, बिन सुख, बिन वृष-सार॥
पर पद, निजपद, जान तज, परपद, भज निज काम।
परम पदारथ फल मिले पल-पल जप निज नाम॥
मोक्ष मार्ग पर तुम चलो दुख मिट सुख मिल जाय।
परम सुगन्धित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय॥
तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश।
रवि-शशि से भी अधिक है तुममें दिव्य प्रकाश॥
विषय विषय-विष है सुनो, विष सेवन मे मौत।
विषय-कषाय विसार दो स्वानुभूति सुख स्रोत॥
'ही' से 'भी' की ओर हो बढ़े सभी हम लोग।
छह के आगे तीन हो विश्व शान्ति का योग॥
यही प्रार्थना वीर से अनुनय से कर जोर।
हरी-भरी दिखती रहे धरनी चारों ओर॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डलगिरि वरक्षेत्र है, हर्षाता मन फूल।
हिरण नदी के कूल पे दर्शाता भव-कूल॥१॥

याम व्योम गति गन्ध की फागुन पूणम ज्योत।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है निजानन्द का स्रोत॥२॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मैं हूं नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियां होवें यदि यहां शोध पढ़ें धीमान॥३॥

॥ इति शुभं भूयात् ॥

रयण मंजूषा

आचार्य समन्तभद्र-कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार का पद्यानुवाद

अनुवादक—आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चांदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूं मन वच तन कर नीत ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूं हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में जीवन मम घुल जाय ॥३॥

महके अगुरु सुगन्ध है श्री गुरु समन्तभद्र।
श्रीपद में अर्पित रहे गन्धहीन मम छन्द ॥४॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥५॥

रतनकरंडक का करूं पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा मोह मिटे परमाद ॥६॥

मंगलाचरण

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमन, गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वयं छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण में,
मन वच तन से जिन चरणों में करूं नमन मुनि अर्पण मैं ॥१॥

धर्म का लक्षण और उसके उपदेश देने की प्रतिज्ञा

भव-सागर के दुःख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष-महल में स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विधि विधि का नाशक है,
करूं उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है ॥२॥

धर्म कौन-कौन है और पाप कौन-कौन है

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहें।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहें,
भव पद्धति हैं भव-दुःख के ही निशिदिन गाते गीत रहें ॥३॥

सम्यग्दर्शन का लक्षण

परमारथमय पूज्य आप्त में परमागम अघहारक में,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक में।
वसुविध अंगों का पालन, त्रय मूढ़पना; वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित ए 'मन समदर्शन भजना' ॥४॥

देव का लक्षण

लोका-लोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
यही आप्तता नहीं अन्यथा जिन-पद में मम माथ रहे ॥५॥

अठारह दोषों के नाम

क्षुधा नहीं है तृषा नहीं हैं जरा जनन नहीं खेद नहीं,
रोग शोक नहिं राग दोष नहिं तथा मरण नहिं स्वेद नहीं।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहिं हैं भीति अरति नहिं गर्व रहा,
मोह न जिनमें आप्त रहे वे जिनपद में जग सर्व रहा ॥६॥

अरहत देव कौन-कौन है

परमेष्ठी हैं परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी हैं,
विमल हुए कृत-कृत्य हुए हैं वीतराग अविकारी हैं।
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं विश्व-विज्ञ जन-हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते हैं सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

शास्त्र की उत्पत्ति का कारण

भविक जनों का हित हो देते सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो!
वाद्यकला में पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज मांगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

शास्त्र का लक्षण

प्रत्यक्षादिक अनुमानादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

गुरु का लक्षण

विषयों से अति दूर हुए हैं कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ हैं पूर्ण रूप से सकल संग को दूर किया।
ज्ञान-ध्यान मय तप में रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमें मनस्वी बता रहे ॥१०॥

निःशंकित अंग का लक्षण

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नहीं अन्य भी तथा रहा है नहीं अन्यथा यथा रहा।
खंग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ में रुचि करना,
शंका के बिन निःशंक बनकर सम-दर्शन को शुचि करना ॥११॥

निःकांक्षित अंग का लक्षण

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दुःख से भरा हुआ निर्भ्रान्ति रहा।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमें अभिरुचि ना करना,
अनाकांक्षमय अंग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

निर्विचिकित्सा अंग का लक्षण

स्वभाव से ही अशुचि धाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रतनत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो।
ग्लानि नहीं हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सिक अंग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

अमूढ़ दृष्टि अंग का लक्षण

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुःखदायक जो बने हुए,
विषयों में अति सने हुए हैं पथिक कुपथ के तने हुए।
तन, मन, वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नहिं करना,
यही दृष्टि है अमूढ़पन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना ॥१४॥

उपगूहन अंग का लक्षण

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते हैं,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते हैं।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हें बस पूर्व-स्थिति पर फिर लाते,
स्थितीकरण दृग अंग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१५॥

स्थितिकरण अंग का लक्षण

स्वयं रहा शुचित शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते हैं कुछ दोष कभी।
उनके उन दोषों को ढकना कभी प्रकाशित नहिं करना,
उपगूहन दृग अंग रहा है अनंग-सुख-प्रद, उर धरना ॥१६॥

वात्सल्य अंग का लक्षण

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो।
यथायोग्य उनका विनयादिक करना भी कर्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अंग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

प्रभावना अंग का लक्षण

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी नहीं,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नहीं।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद यहां,
प्रभावना दृग अंग यही है पाप रहे फिर दुखद कहां ? ॥१८॥

प्रत्येक अंग में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

प्रथम अंग निःशंकित में वह प्रसिद्ध अंजन चोर महा,
निःकांक्षित में अनन्तमति यश फैल रहा चहुं ओर यहां।
निर्विचिकित्सिक में उद्दायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढ़पन में ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१६॥

स्थितीकरण के पालन में रत नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
छठा अंग उपगूहन में वर वारिषेण अनुरक्त रहे।
इसी भांति वात्सल्य अंग में विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए हैं प्रभावना में वज्र मुनीश्वर, ज्ञात रहे ॥२०॥

आठों अंगों की सार्थकता

समदर्शन यदि निज अंगों का अवधारक वह नहीं रहा,
जनन जरा भय भव-संतति का हारक भी फिर नहीं रहा।
न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

लोक मूढ़ता

कंकर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना गिरि पर चढ़कर गिर मरना।
लोक मूढ़ता यही रही है मूढ़ इन्हें बस धर्म कहें,
अत: मूढ़ता बुधजन तजकर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहें ॥२२॥

देव मूढ़ता

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रंजित है,
देव नहीं वे, कुदेव सारे देव-भाव से वंचित हैं।
धन सुत आदिक की वांछा से उनकी पूजा जड़ करते,
देव मूढ़ता यही, इसीसे विधि-बन्धन को दृढ़ करते ॥२३॥

गुरु मूढ़ता

संग सहित आरम्भ सहित हैं हिंसादिक में फंसे हुए,
सांसारिक कार्यों में उलझे मोह पास से कसे हुए।
कुगुरु रहें वे उनका आदर जो जड़ जन नित करते हैं,
गुरु मूढ़ता यही इसी से पुनि-पुनि तन-धर मरते हैं ॥२४॥

आठ मद

ज्ञानवान् हूं ऋद्धिमान् हूं उच्च-जाति कुलवान् तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हूं तप-धारी बलवान् तथा।
मनमें आविर्भाव, मान हो इन आठों के आश्रय ले,
वही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

मदवश घमंड करने का दोष

व्यर्थ गर्व से तने हुए हैं मन-में जो मद-मान धरे,
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करे।
अतः स्वयं ही आत्म-धर्म को मिटा रहे वह भूल रहे,
धर्मात्मा बिन चूंकि धर्म नहिं मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

अभिमान रोकने का उपाय

संवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला,
जात-पात धन कुल से फिर क्या ? रहा प्रयोजन आप भला।
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ है सतत् रहा,
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

सम्यग्दर्शन की महिमा दिखलाकर मद करने का निषेध

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा,
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा।
गणधर आदिक पूज्य साधुजन, पूज्य उसे भी तदपि कहा,
तेज अनल ज्यों अन्दर, ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा ! ॥२८॥

धर्म-अधर्म दोनों का फल

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग में देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति में आ, दुखित घने।
अतः धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है ?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

सम्यग्दर्शन को शुद्ध रखने का उपदेश

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजे नहीं विनय बुध हो करके।
चूंकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोषित हैं ॥३०॥

रत्नत्रय में भी सम्यग्दर्शन की प्रधानता

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलतः जेष्ठ रहा।
मोक्ष-मार्ग में समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहिं सकते जिसका वर्णन मौखिक है ॥३१॥

सम्यग्दर्शन की मुख्यता

विद्या चारित के उद्‌भव औ रक्षण वर्धन सुफल महा,
समदर्शन विन सम्भव नहिं हैं कुछ भी करलो विकल अहा।
उचित बीज बिन भला बता तू फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन विनु मुधा हुआ ॥३२॥

सम्यग्दर्शन और भी उत्तमता

शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर हैं मुनि होकर यदि मुनि मोही।
अतः मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित 'वर' गृही रहा,
मात्र भेष नहिं गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

सम्यग्दर्शन की उत्तमता और मिथ्यादर्शन की नीचता

तीन लोक में तीन काल में तनधारी को सुखहारी,
अन्य कौन यह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुःखहारी।
इसी भांति मिथ्यादर्शन सम और नहीं दुःखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण धारक हैं ॥३४॥

सम्यग्दर्शन की प्रशंसा और उत्तमता

विरत भाव से विरत यदपि हैं जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमल तम समदर्शन के आराधन में नित रत हैं।
प्रथम नरक बिन नहीं नपुंसक पर भव में पशु स्त्री ना हो,
अल्प आयुषी अपांग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

सम्यग्दृष्टि दूसरे भव में कैसे होते हैं

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित घने।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे हैं शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

सम्यग्दृष्टि ही इन्द्रपद पाते हैं

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहें,
अतिशय सुन्दर शोभा-से वस विलसित हो संपुष्ट रहें।
सुर बनकर सुर वनिताओं से सुचिर स्वर्ग में रमण करें,
दृग धारक जिनके आराधक फिर शिवपुर को गमन करें ॥३७॥

सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती होते हैं

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डों के अधिपति हैं,
जिनके पद में मुकुट चढ़ाते सादर आ धरणीपति हैं।
नव-निधियां शुभ चौदह मणियां सभी उन्हीं को प्राप्त रहें,
जो हैं शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहें ॥३८॥

सम्यग्दृष्टि ही तीर्थंकर पद पाते हैं

सुरपति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणों में माथ धरें,
गणधर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हें सदा प्रणिपात करें।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व-बोध को पाये जग में शरण रहें,
धर्म-चक्र के चालक वे ही तीर्थंकर सुख शरण रहें ॥३९॥

सम्यग्दृष्टि ही मोक्ष प्राप्त करते हैं

रोग नहीं है शोक नहीं है जहां जरा नहिं मरण नहीं,
बाधा की भी गंध नहीं है शंका का अनुसरण नहीं।
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद हैं ॥४०॥

उपसंहार

यों सुरपुर में अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहां,
पुनः धरापतियों से पूजित नरपति पद का योग यहां।
तीन लोक में अनुपम अद्भुत तीर्थंकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पंकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

॥ सम्यग्दर्शन का प्रथम अधिकार समाप्त ॥

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

अहो! न्यूनता-रहित रहा है संशय से भी रीता है,
तथा अधिकता रहित रहा है नहीं रहा विपरीता है।
सदा वस्तु सब जिस विध भाती उन्हें उसी विध जान रहा,
जिन कहते हैं समीचीन बस! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

प्रथमनुयोग का लक्षण

महापुरुष की कथा, शलाखा-पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम-पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है ॥४३॥

करणानुयोग का लक्षण

लोक कहां से रहा कहां तक अलोक कितना फैला है,
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है।
दर्पण सम जो चहुं गतियों को स्पष्ट रूप से दर्शाता,
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाता ॥४४॥

चरणानुयोग का लक्षण

सागारों का अनगारों का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन में बाहर जो साधन है।
वही रहा चरणानुयोग है पूर्ण-ज्ञान यों बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यों बिता रहा ॥४५॥

द्रव्यानुयोग का लक्षण

जीव-तत्त्व क्या कहां रहा है अजीव कितने रहे कहां,
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या बंध मोक्ष क्या रहे कहां ?
इन सबको द्रव्यानुयोग-मय दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन-श्रुत विद्या का प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

॥ सम्यग ज्ञान का द्वितीय अधिकार समाप्त ॥

चारित्र क्यों धारण किया जाता है

सुचिर काल के मोह तिमिर को पूर्ण रूप से भगा दिया,
समदर्शन का लाभ हुआ तो सत्य-ज्ञान को जगा लिया।
राग-रोष का मूल रूप में क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

रागद्वेष दूर हो जाने से ही हिंसादिक पाप दूर हो जाते हैं

हिंसादिक सब पापों के जब निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण बाधक कारण मिटने से।
जिनके मनमें अणु भार भी नहिं धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा राजा की वह बन दासा ॥४८॥

चारित्र का लक्षण

हिंसा से औ असत्य से भी चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणों और परिग्रह मेलन से।
सुदूर होना भाग्य मानकर संयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषों का वह चारित है निज आधीना ॥४९॥

चारित्र के भेद

सकल संग को त्याग चुके हैं अनगारों का सकल रहा,
अल्प संग को त्याग चुके हैं सागारों का विकल रहा।
सकल नाम का विकल नाम का इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है सुरमुख शिवसुख विविध महा ॥५०॥

गृही जनों का विकल चरित भी त्रिविध बताया जिनवर ने,
अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत, यों नाम पुकारा गणधर ने।
रहा पंचधा अणुव्रत भी वह गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
शिक्षाव्रत वह रहा चतुर्विध रुचि से पालो सुबुध अहा ? ॥५१॥

अणुव्रतों का लक्षण और भेद

प्राणनाशिनी हिंसा का औ अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का।
पूर्ण नहीं पर स्थूल रूप से पापों का जो त्याग रहा,
अणुव्रत माना जाता है वह सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

अहिंसाणुव्रत का लक्षण

कभी भूलकर काया से भी और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी अन्य किसी की अनुमति से।
संकल्पित हो त्रस जीवों का प्राण-घात जो नहिं करना,
अहिंसाणुव्रत वही रहा है जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

अहिंसाणुव्रत के अतिचार

निर्बल नौकर पशु पर भारी भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीड़न करना देना कम ही भोज तथा।
अहिंसाणुव्रत के पांचों ये अतीचार हैं त्याज्य रहें,
तजता वह भजता सुर सुख औ क्रमशः शिव-साम्राज्य गहें ॥५४॥

सत्याणुव्रत का लक्षण

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से वच, वचवाता पर-पर यदि संकट आता।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है श्रावक पाले मन हरषे,
पर उपकारों में रत गणधर इस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

सत्याणुव्रत के अतिचार

कभी धरोहर डकार जाना अहित पंथ को 'हित' कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को प्रकटाना चुगली करना।
ईर्षावश, नहिं किए कहे को किए कहें यो लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका ना चख लेना ॥५६॥

अचौर्यणुव्रत के लक्षण

रखी हुई या गिरी हुई या कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो दी न गई हो निजी नहीं।
उसे न लेना अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
अचौर्य अणुव्रत यही रहा है रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

अचौर्यणुव्रत के अतिचार

चोरी करने प्रेरित करना चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ सत्ता का कर नहिं देना।
मापतौल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पांचों दोष इन्हें हरते रहना ॥५८॥

ब्रह्मचर्यणुव्रत का लक्षण

पाप कर्म से डरते हैं जो पर-वनिता का भोग नहीं,
स्वयं तथा पर को प्रेरित नहिं करते हैं बुध लोग कभी।
पर वनिता का त्याग रूप वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम है 'स्वदार सन्तोषित' साता ॥५९॥

ब्रह्मचर्यणुव्रत के अतिचार

पर के विवाह करना, अनुचित अंग-संग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना।
व्यभीचारिणी के घर जाना आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांचों दूषण हैं इनसे डरना ॥६०॥

परिग्रह परिमाण अणुव्रत का लक्षण

दशविध परिग्रह धान्यादिक का समुचित सीमित कोष करे,
संग्रह उससे अधिक संग का नहीं करे, मनतोष धरे।
'परिमित परिग्रह' पंचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
'इच्छा परिमाणक' भी प्यारा नाम इसीका तभी परा ॥६१॥

परिग्रह परिमाण अणुव्रत के अतिचार

बहुत भार को ढोना संग्रह व्यर्थ संग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी वह वाहन रखना।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत के पांचों ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको वीतराग गत दोष रहे ॥६२॥

अतिचार रहित अणुव्रतों के पालन करने का फल

अतीचार से रहित रही हैं सारी अणुव्रत की निधियां,
नियम रूप से शीघ्र दिखाती स्वर्गों की स्वर्णिम गलियां।
अणिमा महिमादिक आठों गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया से जो रहित मिले ॥६३॥

अणुव्रत पालन करने में प्रसिद्ध होने वाले के नाम

आदिम में मातंग रहा है दूजे में धनदेव रहें,
वारिषेण नोली जय क्रमशः अन्य व्रतों में, देव कहें।
इस विध अणुव्रत पालन में ये दक्ष रहें निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है भविक जनों में ख्यात हुए ॥६४॥

पांचों पापों में प्रसिद्ध होने वालों के नाम

सुनो! सुनो! हिंसा में कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य में तो सत्यघोष वह चोरी में तापस नामी।
काम पाप में यमपालक था और स्मश्रु-नवनीत रहा,
पांचों पापों में यों पांचों ख्यात यही अघगीत रहा ॥६५॥

श्रावकों के आठ गुण

मद्य-मांस मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिंसादि अणुव्रत पांचों का सादर परिपालन करना।
गृही जनों के अष्टमूल-गुण श्रमणवरों ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

॥ पांचानुव्रतों का तृतीय अधिकार समाप्त ॥

गुणव्रतों के नाम और उनके लक्षण

अणुव्रत हैं त्रय दिग्व्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा रहा तीसरा व्रत सारा।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

दिग्व्रत का लक्षण

मरणकाल तक दशों दिशाओं की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊं यों संकल्पित हो जाना।
चूंकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
यही रहा है दृगव्रत इस विध पूज्य गणधरों का कहना ॥६८॥

दिग्व्रत धारण करने की मर्यादा

सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर और नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर रहा।
दशों दिशाओं की मर्यादा गुणव्रत धरते की जाती,
इन्हीं स्थलों को हेतु बनाते जिनवाणी यों बतलाती ॥६९॥

मर्यादा के बाहर दिग्व्रत धारण करने का फल

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्वृतों सहित हुए।
तभी महाव्रत पन को पाते सागरों के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७०॥

मर्यादा के बाहर महाव्रत क्यों नहीं होते

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए अभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी।
मोहादिक के भाव यदपि हैं सहज पकड़ में नहिं आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

महाव्रत का लक्षण

हिंसादिक पांचों पापों को तनसे वच से औ मतिसे,
पूर्ण त्यागना भूलराग को कृतकारित से अनुमति-से।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
संग सहित हो स्वयं आपको मुनि माने जो मुधा वही ॥७२॥

दिग्व्रत के अतिचार

ऊपर-नीचे आजू-बाजू सीमा उल्लंघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित सीमा संवर्धन करना।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ़ रहे;
आगम कहता सुनो! पांच ये दिग्व्रत के हैं शूल रहे ॥७३॥

अनर्थ दण्डव्रत का लक्षण

दशों दिशाओं की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को।
अनर्थ दण्डक व्रत यह माना व्रतधर के गुरु बतलाते,
जिसके जीवन में यह उतरा तरा भवोदधि वह तातें! ॥७४॥

अनर्थ दण्ड के भेद

रुचि से सुनना पाप कथायें और सुनाना औरों को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिंसा के उपकरणों को।
अनर्थ-दण्डक पांच पाप ये दुश्चिंतन में रत रहना,
इन दण्डों को नहीं धारते गणधर देवों का कहना ॥७५॥

पापोपदेश का लक्षण

पशुओं को पीड़ा हो जिनसे कृषि आदिक हिंसाधिक हो,
जिन उपदेशों से यदि बढ़ते प्रचलित प्रवंचनादिक हो।
उन्हीं कथायें वार-वार बस सतत् सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड़ है भव गहना ॥७६॥

हिंसा दान अनर्थ दण्ड का लक्षण

हिंसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खंग कुदारी तथा शृंखला जलती ज्वाला जाला को।
प्रदान करना, अनर्थ दण्डक यह है हिंसा दान रहा,
बुध कहते, दुःख प्रदान करता भव-भव में दुःख खान रहा ॥७७॥

अपध्यान अनर्थ दण्ड का लक्षण

द्वेषभाव से कभी किसी के बंधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो परवनितादिक का धन का।
मन से चिंतन करना ही तो दुःख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

दुःश्रुति अनर्थ दण्ड का लक्षण

कृषि आदिक का वशीकरण का संग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसों का मिश्रण जिनमें द्वेषभाव का चित्रण हो।
कुमत मदन मद के पोषक हैं उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दुःश्रुति' यह इसका फल
भवभ्रमण रहा ॥७९॥

प्रमादचर्या अनर्थ दण्ड का लक्षण

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सिंचना वृथा कभी,
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोड़ना तथा कभी।
बिना, प्रयोजन स्वयं घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ दण्डक यह कारण भव-बन्धन को ॥८०॥

अनर्थ दण्ड व्रत के अतिचार

बहु बकना अति राग भाव से असभ्य बातें भी करना,
भोग्य वस्तुएं अधिक बढ़ाना कुत्सित चेष्टाएं करना।
किसी कार्य काऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थ दण्डक व्रत के पांचों दोष रहें ये, नहिं करना॥८१॥

भोगोपभोग परिमाण का लक्षण

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना है,
विषयों की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है।
आवश्यक पंचेन्द्रिय विषयों की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही गुणव्रत धरना हित करना॥८२॥

भोग और उपभोग का अलग-अलग लक्षण

भोग वही जो भोग काम में एक बार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम में बार-बार जो आता है।
अशन सुमन आसन वसनादिक पंचेन्द्रिय के विषय रहें,
श्रावक इनमें रचे-पचे नहिं निज व्रत में नित अभय रहें॥८३॥

मद्यादि का विशेष त्याग

जिसने जिनवर के जगतारण तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनता है आचरण सही।
त्रसहिंसा से जब बचना है मांस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजता है॥८४॥

और भी त्याग

मूली, लहसन, प्याज, गाजरा, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवड़ा गुलाब गुलकन्दादिक को।
साधु जनों ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता!
जीवघात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता॥८५॥

और भी त्याग करने का उपदेश तथा व्रत का लक्षण

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले हो त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनों को त्याज्य रहे।
क्योंकि ग्रहण के योग्य विषय को इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत है इस विध आगम कहता मोह राग को तज राही ॥८६॥

भोगोपभोग परिणाम के भेद और उनके लक्षण

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा है रहा दूसरा 'यम' वाला।
तथा काल की सीमा करना वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

भोगोपभोग परिमाण में नियम करने की विधि

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का।
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत संगीत प्रीति का हयगय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका में या दिनभर में या निशि में निशिवासर में या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन में पूरण संवत्सर में या।
यथा शक्ति इन्द्रिय विषयों का जो तजना है 'नियम' रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रितम रहा ॥८९॥

भोगोपभोग परिमाण के अतिचार

विषम-विषमतम विष सम विषयों को अनपेक्षित नहिं करना,
विगत काल में भोगे-भोगों की स्मृति भी पुनि-पुनि करना।
भावी भोगों की अति तृष्णा लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये भोगों में अति रम जाना ॥९०॥

॥ तीन गुण व्रत का अधिकार समाप्त ॥

आगे शिक्षाव्रतों का निरूपण करते हैं

शिक्षाव्रत के भेद

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है 'वैयावृत्या श्रमिक-कथा'।
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनसे शिक्षा व्रत ये चार रहें,
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहें ॥६१॥

देशावकाशिक का लक्षण

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं में सीमा आजीवन थी,
उसे काल की मर्यादा से कम-कम करना प्रतिदिन भी।
यही देश अवकाशित व्रत है अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिनशासक के शासक का ॥६२॥

देशावकाशिक व्रत के क्षेत्र की मर्यादा

ग्राम तथा आराम धाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा।
सुनो ! देश अवकाशिक व्रत में इनकी सीमा की जाती,
गणी कहें, भवतीर लगाती वीर भारती भी गाती ॥६३॥

देशावकाशिक व्रत के काल की मर्यादा

एक स्थान पर रहूं वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी।
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
ज्ञानी ध्यानी कहते हैं औ जिनवर की वाणी गाती ॥६४॥

सीमा के बाहर देशावकाशिक का फल

देश काल की सीमायें जब निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्मअघ पांचों ही मिट जाने से।
स्वयं देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दुःख बनता सुख सुधा बने ॥६५॥

देशावकाशिक व्रत के अतिचार

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
कंकर आदिक फेंक सूचना करना ध्वनि देकर गाना।
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं, तज अघ-आकर को ॥९६॥

॥ इस प्रसार देशावकाशिक व्रत का कथन समाप्त हुआ ॥

सामायिक का लक्षण

सीमा के भीतर बाहर पांचों पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम में अनुराग करो।
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक है,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं ॥९७॥

समय का लक्षण

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बंध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा।
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

सामायिक करने योग्य स्थान और उसके बढ़ाने का उपदेश

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से रहित रहे पै, शान्त रहे।
निजी भवन में वन उपवन में चैत्य भवन या जंगल में,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मंगल में ॥९९॥

सामायिक किस प्रकार करना चाहिए

देहाहिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
संकल्पों औ विकल्प जल्पों का निग्रह कर भीतर से।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथा विधि अन्य दिनों में भी करना ॥१००॥

प्रतिदिन सामायिक करने का उपदेश

यथाविधी एकाग्र चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करें वे अनुत्साह आलस बिन ही।
क्योंकि अहिंसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहें,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहें ॥१०१॥

सामायिक की सफलता

मुनो ! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नहीं,
पास परिग्रह नहिं रखता है पर का कुछ आलम्ब नहीं।
तभी गृही वह यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कहीं उपसर्ग वस्त्र से वेष्ठित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

सामायिक करते समय परिषह सहन करने का उपदेश

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने संकल्पित होता,
बांधी सीमा तक अपने में पूर्णरूप अर्पित होता।
मच्छड़ आदिक काट रहे हों शीत लहर हो अनल दहे,
सहे परीषह उपसर्गों को मौन योग में अचल रहे ॥१०३॥

सामायिक करते समय क्या चिंतवन करना चाहिए

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नहीं दुःख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभंगुर संसार रहा।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वयं मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चिंतन सामयिक काल में करता वह भाव पार रहा ॥१०४॥

सामायिक के अतिचार

मन वच तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना-होना सहसा विस्मृत अनजाना।
ये पांचों सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहें,
दोष रहित जिनदेव बताते गुणगण के जो कोष रहें ॥१०५॥

प्रोषधोपवास का लक्षण

सदा अष्टमी चतुर्दशी को भोजन का बस त्याग करें,
अशन पान को खाद्य लेह्य को याद करें ना राग करें।
यही 'प्रोषधा उपवासा' है व्रतीजनों का ज्ञात रहे,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे॥१०६॥

प्रोषधोपवास के दिन किस-किस का त्याग करना चाहिए

लोचन अंजन नासा रंजन दांतन मंजन स्नान नहीं,
नास तमाखू अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं।
असि मशि कृषि आदिक षट्कर्मों पापों का परिहार करें,
निराहार उपवास दिनों में निज का ही शृंगार करें॥१०७॥

उपवास के दिन क्या करना चाहिए

पूर्ण चाव से निजी श्रवण से धर्मामृत का पान करें,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करें।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म-ध्यान में लीन रहें,
किन्तु व्रती उपवास दिनों में प्रमाद-भर से हीन रहें॥१०८॥

प्रोषध उपवास और प्रोषधोपवास तीनों का लक्षण

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा 'प्रोषधा उपवासा' वह बार-बार गुरु का कहना॥१०९॥

प्रोषधोपवास के अतिचार

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यों को लेना,
जहां कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रों को तज देना।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के हैं कहते हैं सुधी सभी॥११०॥

वैयावृत्य का लक्षण

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-घर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह 'वैयावृत्या' व्रतवर है।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥१११॥

वैयावृत्य का विशेष लक्षण

संयम घर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पैर थके हो पीड़ा हो तो उन्हें दवाना आर्य महा।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैयावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

दान का लक्षण

पाप कार्य सब चूली चक्की आदिक सूने त्याग दिये,
आर्य रहें अनिवार्य कार्यरत संयम में अनुराग किये।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ति है करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दुःख हरता ॥११३॥

दान का फल

अगार तज अनगार बने हैं अतिथि रहें नहिं तिथि रखते,
उन पात्रों को दाता देते दान यथोचित मति रखते।
गृह-कार्यों से अर्जित दृढ़तम अघ भी जिससे धुलता है,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता है ॥११४॥

नौ प्रकार की भक्ति करने का अलग-अलग फल दिखाते हैं

तपोधनों को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग दान से विपुल मिले।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मंजुलता ॥११५॥

थोड़े से दान से इतना फल किस प्रकार मिलता है

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छांव फल देता तरु बन भाव भले शुभ चीज मिले ।।११६।।

दान के भेद

प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रादिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा।
चौथा है आवासदान यों भेद दान के चार रहें,
वैयावृत्या अतः चतुर्विध सुधी कहे आचार्य कहें ।।११७।।

चारों प्रकार के दान देने में प्रसिद्ध होने वालों

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान में ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औषध महादान में ख्यात महा।
तथा रहा उपकरण-दान में नामी है कौण्डेश अहा,
सूकर वह आवास-दान में यह गुरु का उपदेश रहा ।।११८।।

अरहंत देव पूजा करने का उपदेश

देवों से भी पूज्य देव जिन जिनके सुरपति दासक हैं,
प्रभु पद पंकज कामधेनु हैं कामभाव का नाशक हैं।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करे अतः,
सब दुःख मिटता मिलता निज सुख क्रमशः शिव
को वरे स्वतः ।।११९।।

पूजा की महिमा को प्रकट करने वाले का नाम

अरहन्तों के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दों में वह बंध नहिं सकती थकती रसनायें सारी।
इस महिमा को राजगृही में भविक जनों के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेण्डक दिखलाया है फूल-पांखुड़ी ले मुख में ।।१२०।।

वैयावृत्य के अतिचार

अतिथिजनों को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्रों से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ।
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहें,
वैयावृत्या व्रत के पांचों कहते गुरु गतदोष रहें ॥१२१॥

इस प्रकार वैयावृत्य का कथन समाप्त हुआ।

॥ चार शिक्षा व्रत का पंचम अधिकार समाप्त ॥

सल्लेखना का लक्षण

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गों का अवसर हो,
रोग भयंकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दुःखकर हो।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तव कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा ॥१२२॥

हेतुपूर्वक सल्लेखना धारण करने का उपदेश

अन्त समय सन्यास सहारा लेना होता है प्राणी !
सकल तपों का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी।
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि मरण-अरे !
सतत् यतन करते रहना है तुम्ह मुक्ति तब वरण करे ॥१२३॥

समाधिमरण की विधि

प्रेम भाव को बैर भाव को तथा अंग की ममता को,
सकल संग को तजकर, धरकर निर्मल मनमें समता को।
विनय घुला हो प्रिय संवादों मिश्री मिश्रित वचनों से,
आप क्षमाकर क्षमा मांगकर पुरजन परिजन स्वजनों से ॥१२४॥

फिर

सर्व पाप का आलोचनकर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से।
पञ्च पाप का त्याग करे वह जव तक घट में प्राण रहे,
पञ्च महाव्रत ग्रहण करें पर आत्म-तत्त्व का भान रहे॥१२५॥

महाव्रत धारण करने के बाद क्या करना चाहिए

शोक छोड़ना भीति छोड़ना पूर्ण छोड़ना खेद तथा,
स्नेह छोड़ना द्वेष छोड़ना अरतिभान, मनभेद व्यथा।
अहो! धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
सत्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मनको करना॥१२६॥

समाधिमरण में आहार त्याग करने का अनुक्रम

दाल भात आदिक को क्रमशः कम-कम करते त्याग करें,
दुग्धादिक का पान करें अव नहीं अन्न का राग करें।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करें,
नीरस कांजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करें॥१२७॥

तदनंतर

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमशः फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना।
पूज्य पंच नवकार मन्त्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है॥१२८॥

सल्लेखना के अतिचार

जीवन की वांछा करना मैं शीघ्र करूं मन में लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।
भोग मिले यों निदान करना पांच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते॥१२९॥

सल्लेखना धारण करने का फल

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहिं भव पनघट आते।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दुःख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते ॥१३०॥

मोक्ष का लक्षण

जनन नहीं है मरण नहीं है जरा नहीं है शोक नहीं,
दुःख नहीं है भीति नहीं है किसी तरह के रोग नहीं।
वहीं रहा निर्वाण धाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
निःश्रेयस् है विशुद्धतम सुख ललाम आतम राम रहा ॥१३१॥

मोक्ष में कैसे पुरुष विराजमान रहते हैं

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही।
जो कुछ उघड़े घटे-बढ़े नहिं अमित काल तक अमिट रहे,
निःश्रेयस् निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहें ॥१३२॥

सिद्धों के गुणों में कभी हीनाधिकता नहीं होती

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत्-शत् भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुःखदाई।
सिद्ध शुद्ध जीवों में फिर भी विकार का वह नाम नहीं,
उनका सुखकर नाम इसीसे लेता मैं अविराम सही ॥१३३॥

सिद्ध भगवान क्या करते हैं

निःश्रेयस् निर्वाण धाम में सुचिर काल ये बसते हैं,
तीन लोक की शिखामणी को मंजुल छवि ले लसते हैं।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर हैं,
सिद्ध हुए हैं शुद्ध हुए हैं जिन्हें पूजते आ-सुर हैं ॥१३४॥

इन्द्रादिक की विभूतियों का वर्णन

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएं मिलती महती सम्पद हैं।
परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जगविस्मित हो अद्भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

॥ संलेखना नाम का षष्टम् अधिकार समाप्त ॥

श्रावकों की ग्यारह प्रतिमा

प्रतिमाएं वे कहलाते हैं गारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पदगुण पूर्व पदों के गुणों सहित ही बढ़ पाते।
उचित रहा यह करोड़पति ज्यों लखपति पण से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण में मुक्त रहें॥१३६॥

दर्शन प्रतिमा का लक्षण

विषय भोग संसार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीचीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है।
पांचों परमेष्ठी गुरुजन के चरणों में जा शरण लिया,
दर्शन प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपंथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

व्रत प्रतिमा का लक्षण

पांचों अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनों गुणव्रत चउशिक्षावृत इन शीलों से सहित हुआ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यों कहते हैं भवभीता हो॥१३८॥

सामायिक प्रतिमा का लक्षण

तीन-तीन कर चार-चार जो आवर्तों को करते हैं,
दिग्अम्बर हो स्थित हो प्रणाम चार बार औ करते हैं।
तीनों संध्याओं में वन्दन बैठ नमन दो बार करे,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पाले भव को पार करें॥१३९॥

प्रोषधोपवास प्रतिमा का लक्षण

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी प्रतीमास में आते हैं,
उन्हीं दिनों में यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते हैं।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमों कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४०॥

सचित्त त्याग प्रतिमा का लक्षण

कच्चे जब तक रहते हैं वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पातफल शाखा हो या फूल रहो।
उनको तब तक खाते नहिं हैं दयामूर्ति जो श्रावक हैं,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक हैं ॥१४१॥

रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा का लक्षण

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यों रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि में करते नहीं व्रतीजन भो ! जन हैं।
जग के सब जीवों के प्रति जो करुणा धारण करते हैं,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

ब्रह्मचर्य प्रतिमा का लक्षण

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

आरम्भ त्याग प्रतिमा का लक्षण

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहें,
प्राणघात के कारण, कारण पापों के सम्बन्ध रहें।
इन आरम्भों को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

परिग्रह त्याग प्रतिमा का लक्षण

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो।
तथा बना सन्तोष कोष हो निज कार्यों में निरत सही,
स्वामीपण ले मनमें बैठे सकल संग में विरत वही ॥१४५॥

अनुमति त्याग प्रतिमा का लक्षण

असि मसि कृषि आदिक आरम्भों में तो ना अनुमति देता,
किन्तु संग में विवाह कार्यों में भी कभी न मति देता।
यद्यपि घर में रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवीं प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का लक्षण

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं के सानिध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत साता।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

श्रेष्ठ ज्ञाता का लक्षण

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा।
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहिं है ज्ञानी कब वह कहलाता ? ॥१४८॥

इस शास्त्र के अनुसार चलने वालों को क्या फल मिलता है

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या दर्शनव्रत रत्नकरण्डक कर पाया।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करें,
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे ॥१४९॥

सम्यग्दर्शन रूप लक्ष्मी की प्राप्त करने की प्रार्थना

सुखद कामिनी कामी को ज्यों सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती मां सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत करे।
कुल की कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मों में रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥

॥ ग्यारह प्रतिमाओं का सप्तम अधिकार समाप्त ॥

स्थान एवं समय परिचय

खुद पर्वत यों गा रहा ले कुण्डल आकार।
कुण्डल गिरि में हूं खड़ा कौन करे नाकार ? ॥१॥

सार्थक कुण्डलगिरि रहा सुखकर कोनी क्षेत्र।
एक झलक में खुलगये मन के मौनी नेत्र ॥२॥

व्यसन गगन गति गंध की चैत्र अमा का योग।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है ध्येय मिटे भव रोग ॥३॥

मंगल-कामना

विहसित हो जीवन लता विलसित गुण के फूल।
ध्यानी मौनी सूंघता महक उठी आमूल ॥१॥

सान्त करूं सब पाप को हरूं ताप बन शान्त।
गति आगति रतिमति मिटे मिले आप निज प्रान्त ॥२॥

रग-रग से करुणा झरे दुःखी जनों को देख।
विश्व सौख्य में अनुभवूं स्वार्थ सिद्धि की रेख ॥३॥

रस रूपादिक हैं नहीं मुझ में केवल ज्ञान।
चिर से हूं चिर और हूं हूं निज के बल जान ॥४॥

तन मन से औ वचन से पर का कर उपकार।
रवि सम जीवन बस बने मिलता शिव उपहार ॥५॥

यम दम शम सम तुम धरो क्रमशः कम श्रम होय।
नर से नारायण बनो अनुपम अधिगम होय ॥६॥

मंगल जग जीवन बने छा जावे सुख छांव।
जुड़े परस्पर दिल सभी टले अमंगल भाव ॥७॥

शाश्वत निधि का धाम हो क्यों बनता तू दीन।
है उसको बस देखले निज में होकर लीन ॥८॥

निजामृतपान

नाटक समयसार कलश का पद्यानुवाद

रचयिता—श्री १०८ आचार्य मुनि श्री विद्यासागर जी महाराज

मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकाशते
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥

१/१*

मणिमय मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है,
तमो रजो अरु सतो गुणों के गण को क्षण में हरती है।
समय समय पर समयसार मय चिन्मय निज ध्रुव माणिका को,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृण्मय जड़मय मणिका को ॥

२/२

शुद्धात्म के स्वरूप की प्रतिपादक अनेकान्त स्वरूप जिनवाणी के प्रति अपनी भावना प्रकट करते हैं

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुण गण हैं,
मोह मान मद माया मद से रहित हुए हैं ये जिन हैं।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग में तब लौं हो,
रवि शशि उडुगण लसते रहते विस्तृत नभ में जब लौं हो ॥

---

*पद्यानुवाद में प्रथम क्रमांक कलश के पद्य का क्रम सूचक है। तथा/का पश्चाद्वर्ती अंक पद्यानुवाद की निरन्तरता (Continuity) का ज्ञापक है।

३/३

श्लोकों से मंगलाचरण करके ग्रन्थकार ग्रन्थ के बनाने के फल की कामना करते हैं

समयसार की व्याख्या करता चाहूं कुछ नहिं विरत रहूं,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज में विरत रहूं।
मोह भाव मम बिखर बिखर कर क्षण क्षण कण कण मिट जावे,
पर परिणतिका मूल यही बस मोह मूल झट कट जावे।।

४/४

समयसार रूप शुद्धात्मा का दर्शन किसे होता है उसे आचार्य निम्न पद्य द्वारा बताते हैं

स्यात पद भूषित, दूषित नहिं हैं जिन वच मुन्रे सुहाते हैं,
उभयनयों के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते हैं।
जिन वच रमता सकल मोह का मुनि बन वन में वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया।।

५/५

निश्चय और व्यवहारनय की उपयोगिता को प्रतिपादन

निर्विकल्पमय समाधि जब तक साधक मुनिगण नहिं पाते,
तब तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते।
निश्चय नयमय नभ में लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर प्रभु आश्रय तो जुगनू ज्योत।।

६/६

निश्चयनय से आत्मा का यथार्थ रूप क्या है आचार्य उसे बताते हैं

विशुद्ध नय का विषय भूत उस विरागता का पूरा पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल संग से सूनापन।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजातम है प्यारा,
वही शरण है वही शरण लूं तज नव तत्त्वों का भारा।।

७/७

यदि सत्यस्वरूप का श्रद्धान करें तो अवश्य सम्यग्दृष्टि होंगे

निर्मल निश्चय नय का तब तब आश्रय ऋषि अवधारत हो,
अन्तर्जगती तल में जब तक जग मग जग मग जागृत हो।
फलतः निश्चित लगता नहिं वो मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्त्वों में भला ढला हो चला न जाता उजलापन।।

८/८

आत्म दर्शन किस प्रकार करना चाहिए

नव तत्त्वों में ढलकर चेतन मृण्मय तन के खानन में,
अनुमानित हैं चिर से जैसा कनक कनक पाषाणन में।
वही दीखता समाधिरत को शोभित द्युतिमय शाश्वत है,
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आतम भास्वत है।।

९/९

इसका समाधान निम्न पद्य से श्री अमृतचन्द्राचार्य बताते हैं

निजानुभव का उद्भव उरमें विराग मुनि से हुआ जभी,
भेदभाव का खेद भाव का प्रलय नियम से हुआ तभी।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहिं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण गुप लुप छुप जाते।।

१०/१०

वह शुद्धनय का विषय है इसी बात को आचार्य श्री निम्न पद्य में बताते हैं

आदि रहित है, मध्य रहित है अन्त रहित है जयवन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणों, गुणवन्ता।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आतम प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उर में हो उदित उजाला उपजाता।।

११/११

क्षणिक भाव है तनिक काल लौं ऊपर ऊपर दिख जाते,
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहिं टिक पाते।
निज में निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोका लोक॥

१२/१२

आचार्य उस परमात्मा स्वरूप-आत्मा को एक बार देखने की प्रेरणा करते हैं

विशुद्ध नय आश्रय ले होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिन की बतलाती।
जान मान कर इस विध तुमको निजमें रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरन्तर प्यारा परितः पूर्ण प्रकाशित है॥

१३/१३

आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है ऐसा प्रतिपादन करते हैं

आत्मध्यान में विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोड़े झट मुनि जन।
शाश्वत शिव बन शिव-सुख पाते लोक अग्र पर बसते हैं,
निज अनुभव से जाने जाते कर्म-मुक्त, ध्रुव लसते हैं॥

१४/१४

आचार्य उस सहज चैतन्य के आलंबन की प्रेरणा करते हैं

चिन्मय गुण से परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एक सी लवणडली सी अति प्यारी।
सहज स्वयं बस लस लस लसती लसित चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस ! समता रस की वह प्याली॥

१५/१५

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा है आतम नित्य निरन्जन है,
यद्यपि साध्य साधकवश द्विविधा तदपि एक मुनिरंजन है।

ऋद्धि सिद्धि को पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो, करलो चंचल मन को अचल अहा ॥

१६/१६

आत्मा के द्वैविध्य को बताकर उसका त्रैविध्य निम्न चार पद्यों में बताते हैं

द्रव्य दृष्टि से निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टि बनती दिखता अनेक—नैकाकारतना।
चंचलमन में वही उतरता विद्यादृगव्रत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियों को सवमुव चिति से भरा हुआ ॥

१७/१७

दृग-व्रत बोधादिक में साधक नियम-रूप से दलता है,
पल पल, पग पग आगे बढ़ता अविरल शिवपथ चलता है।
एक यद्यपि वह तदपि इसी से बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक हैं ॥

१८/१८

पूर्ण रूप से सदा काल से व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान-ज्योति से विलस रहा एक आप से रचित रहा।
वैकारिक वैभाविक भावों का निज आतम नाशक है,
इसीलिए वह माना जाता एक भाव का शासक है ॥

१९/१९

एक स्वभावी नैकस्वभावी द्रव्य गुणों से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्षधाम नहिं मिलता है।
समकित विद्याव्रत से मिलती मुक्ति हमें अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर हैं ॥

२०/२०

साध्य सिद्धि का उपाय बताते हैं

रत्नत्रय में ढली धुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह बहती रहती जीवित चेतन धारा है।
कुछ भी हो पर स्वयं इसी में अवगाहित निज करता हूं,
नहिं नहिं इस बिन शान्ति तृप्ति हो आत्मा ताप सब हरता हूं ।।

२१/२१

आत्मा की अनुभूति प्राप्त करते हैं वे ही अधिकारी बनते हैं ऐसा कथन निम्न पद्य में बताते हैं

स्वपर-बोध का मूल स्वानुभव जहां जगत प्रतिबिम्बित हो,
जिन मुनिवर को मिला स्वतः या सुन गुरु वचन अशंकित हो।
पर न विभावों से वे अपना कलुषित करते जिनपन हैं,
कई वस्तुएं झलक रही हैं तथापि निर्मल दर्पण हैं।

२२/२२

आचार्य इस पर दुःख प्रकट करते हुए उपदेश देते हैं

मोह मद्य का पान किया चिर अब तो तज जड़मति ! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूंट ले मुनि जन को जो अति भाई।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतना तन में ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय मन में धारो, धारो मन में दैन्य नहीं ।।

२३/२३

आचार्य भव्य प्राणियों को आत्मानुभव रस को चखने की प्रेरणा करते हैं

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन में,
मर जा पर कर निजानुभव कर घड़ी घड़ी मत रच तन में।
फलतः पल में परम तूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज धज निजको निज से निजधर जायेगा।।

२४/२४

शरीर और आत्मा में भेद होता तो आचार्य भगवान की स्तुति शरीर के आधार पर क्यों करते जैसा कि इस श्लोक में कहा है

दशों दिशाओं को हैं करते स्नपित सौम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्र रवि शशियों को कुन्दित करते आभा से।
हित मित वच से कर्ण तृप्त हैं करते दश-शत-अठ गुण घर,
रूप सलोना धरते हरते जन मन जिनवर हैं मुनिवर॥

२५/२५

गोपुर नभ का चुम्बन लेता ढकती वन छवि वसुधातक,
गहरी खाई मानो पीती निरीतलातल रासातल।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहि पुर-पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जड़मय पुर-महिमा॥

२६/२६

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग रग में है रूप भरा,
जय हो सागर सम गम्भीरा शम यम दम का कूप निरा।
रूपी तन का 'रूप रूप' भर तन से जिनवर हैं न्यारे,
इसीलिए यह तन की स्तुति मुनिवर कहते हैं प्यारे॥

२७/२७

शरीर का आत्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है यही बताते हैं

तन को स्तुति से चेतना-स्तुति की औपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहिं तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ-मथनी है।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अतः ऐक्य तन चेतन में वो नहीं सर्वथा किंचित् है॥

२८/२८

स्वपर तत्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड़काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया बन निर्भय।
स्वरस रसिक वर बोध विकासित क्यों नहिं उस मुनिवर में हो,
भागा बाधक! साधा साधक! साध्य सिद्ध बस पल में हो॥

२९/२९

परभाव के त्याग की दृष्टि आते ही स्वानुभूति प्रकट होती है ऐसा प्रतिपादन बताते हैं

संयम बाधक सकल संग को मन वच तन से त्याग दिया,
बना सुसंयत अभी नहीं पर प्रमत्त पर में राग किया।
तभी सुधी में निजानुभव का उद्‌भव होना संभव है,
पर भावों से रहित परिणती अविरत में ना संभव है॥

३०/३०

अनुभूति कैसी है उसका स्वाद बताते हैं

सरस स्वरस परिपूरित परितः सहज स्वयं शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिव सुख के तन का।
अतः नहीं है कभी नहीं हैं मान मोह-मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हूं द्वैत नहीं अद्वैत सदा॥

३१/३१

ऐसे विचारों से ही अपनी प्रवृति स्वात्मनिष्ठ होती है यही कहते हैं

राग रोष से दोष कोष से सुदूर शुचि उपभोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा।
निश्चय रत्नत्रय का बाना, धरता नित अभिराम रहा,
निज के आतम उपवन में ही करता आठों याम रहा॥

३२/३२

दर्शन ज्ञान चरित्र की एक परणति रूप परिणमन करने वाले आत्मा की शान्ति सुख के रस से परिपूर्ण ज्ञान रूपी समुद्र दिखाई देता है उसमें निमग्न होने की प्रेरणा करते हैं

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिन में,
उज्ज्वल-उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन में।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमें अवगाहन करलो,
मोह ताप संतप्त हुए तो हृदय ताप को तुम हरलो॥

॥ इति रंग भूमिका ॥

१/३३

ज्ञान की महिमा बताते हैं

भवबन्धन के हेतुभूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद-भिन्नता भविजन को है दर्शाता।
चपल पराश्रित आकुल नहि पर उदार धृतिधर गत आकुल,
हरा-भरा निज उपवन में नित ज्ञान खेलता सुख संकुल ।।

२/३४

इसी बात को निम्न कलश में बताते हैं

राग रंग से अंग संग से शीघ्र दूर कर वच तन रे!
सार हीन उन जग कार्यों से विराम ले अब अयि! मन रे।
मानस-सर में एक स्वयं को मात्र मास छह देख जरा,
जड़ से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा।।

३/३५

तन मन वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
संवेदन से शून्य जड़ों का अदय बनो संहार करो।
आप आपका अनुभव करलो अपने में ही आप जरा,
अखिल विश्व में सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आत्म खरा।।

४/३६

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत् शत् वन्दन बार सदा।
असात्मय संसार क्षेत्र में निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहां तहां है मुझ पर हैं निरे निरे।।

५/३७

वर्णादिक औ' रागादिक ये पर हैं पर से हैं उपजे,
समाधि रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शद्ध सजे।
लहरें सर में उठती रहतीं झिलमिल झिलमिल करतीं हैं,
अन्दर तल में मौन छटा पर निश्चित मुनि मन हरतीं हैं।।

६/३८

जग में जब जब जिसमें जो जो जन्मत हैं कुछ पर्यायें,
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड़ दी शंकाएं।
बना हुआ जो कांचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
विज्ञ उसे कांचन मय लखते कभी न असि को होष रहा॥

७/३९

वर्णादिक हैं रागादिक हैं गुण स्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्‌गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी।
इसीलिए ये रागादिक हैं मल हैं केवल पुद्‌गल हैं,
शुद्धात्मा तो जड़ से न्यारा ज्ञानपुंज है निर्मल है॥

८/४०

मृण्मय घटिका यदपि तदपि है घृत की घटिका कहलाती,
घृत संगम को पाकर भी पर घृतमय वह नहिं बन पाती।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्व किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहिं होता॥

९/४१

जीव का स्वरूप

आदिहीन है अन्तहीन है अचल अडिग है अचल बना,
आप आप से आना जाता प्रकट रूप से अमल तना।
स्वयं जीव ही सहज रूप से चम-चम चमके चेतन है,
समयसार का विश्वसार का शुचिमय शिव का केतन है॥

१०/४२

अमूर्तत्व जीव का लक्षण नहीं है

वर्णादिक से रहित सहित हैं धर्मादिक हैं ये पुद्‌गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा बताया जिनका निर्मल अन्तस्तल।
अमूर्तता की स्तुति करता पर जड़ आतम न लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अतः है आतम लक्षण चख ! साता॥

११/४३

निरा जीव है अजीव न्यारा अपने अपने लक्षण से,
अनुभवता ऋषि जैसा हंसा जल जल पय पय तत् क्षण से।
फिर भी जिसके जीवन में हा! सघन मोह-तम फैला है,
भाग्यहीन वह कुधी भटकता भव-वन में उजेला है॥

१२/४४

बोध-हीन उस रंग मंच पर सुचिर काल से त्रिभुवन में,
रागी, द्वेषी जड़ ही दिखता रस लेता नित नर्तन में।
वीत-राग है वीत दोष है जड़ से सदा-विलक्षण है,
शुद्धात्मा तो शुद्धात्मा है चेतन जिसका लक्षण है॥

१३/४५

चेतन तन से भिन्न भिन्न नहिं पूर्ण रूप से हो जब लौं,
कर कर कर कर रहो चलाते आरा ज्ञानमयी तब लौं।
तीन लोक को विषय बनाता ज्ञाता दृष्टा निज आतम,
पूरण विकसित चिन्मय बल से निर्मलतम हो परमातम॥

॥ जीवाजीवाधिकारः समाप्तः ॥

दोहा

रग रग में चिति रस भरा, खरा निरा यह जीव।
तन धारी दुख सहत सुख, तन बिन सिद्ध सदीव॥

प्रीति भीति सुख दुखन से, धरे न चेतन-रीत।
अजीव तन धन आदि ये, तुम समझो भव भीत॥

१/४६

जीव पुद्गल कर्म का कर्त्ता है? और पुद्गल कर्म जीव की संसारी दशा के कर्त्ता है ऐसी मान्यता यथार्थ नहीं है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकरण में आचार्य बताते हैं

चेतन कर्ता मैं क्रोधादिक कर्म रहें मम 'जड़' गाता,
उसके कर्तृ कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता।

लोकालोकाऽऽलोकित करता ज्ञान-भानु द्युति पुञ्ज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है दीन नहीं दृग मञ्जु रहा ॥

२/४७

ज्ञानी कौन है और ज्ञान की महिमा क्या है ? इस श्लोक में आचार्य बताते हैं

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावों विदारता,
ज्ञानदिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणें सुधारता।
कर्तापन तम कुकर्मपन तम फिर क्या वह रह पायेगा,
विधि वन्धन का गीत पुराना पुद्‌गल अब ना गाएगा ॥

३/४८

भावकर्म के तथा द्रव्य कर्म के कर्त्तापन से रहित आत्मा ही ज्ञानी बनता है ऐसा इस कलश में आचार्य बताते हैं

जड़मय पुद्‌गल पर परिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बनकर मुनि जब सहज ज्ञान में विरत तना।
ऊपर उठ सुख दुख से तजता कर्त्ता कुकर्म कारणता,
ज्ञाता दृष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोत्तम बनता ॥

४/४६

व्याप्यपना औ' व्यापकता वह पर में नहिं निज द्रव्यन में,
व्याप्य और व्यापकता बिन नहीं कर्तृ कर्म पर जीवन में।
बार बार मुनि विचार इस विधि करे सदा वे जगा विवेक,
हर कर्त्तापन तजते लसते अन्धकार का भगाऽतिरेक ॥

५/५०

ज्ञानी रागादिका कर्त्ता नहीं है

ज्ञानी निज-पर-परिणति लखता पर नहिं पुद्‌गल है,
निरे निरे हैं अतः परस्पर मिले न चेतन पुद्‌गल हैं।
जड़ चेतन में कर्त्त कर्म का भ्रम धारे जड़ शठ तब लौं,
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हें नहिं झट जब लौं ॥

६/५१

कर्त्ता कर्मपने का नियम न परमार्थतः कैसा है इसे आचार्य कहते हैं

स्वतंत्र होकर परिणमता है होता स्वतंत्र कर्त्ता है,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन विधि हर्ता हैं।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ में है वही क्रिया,
वैसे तीनों एकमेक हैं यथार्थ में सुन सही जिया!॥

७/५२

जीव अपने स्वभाव विभाव परिणमन में स्वयं जिम्मेवार है परका कोई दोष नहीं है यह बात इस पद्य में बताते हैं

सतत एक ही परिणमती है इक का इक परिणाम रहा,
इक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्त्व अभिराम रहा।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल गुण-गण धारक-जिनकी वाणी इस विध गाती है॥

८/५३

दो द्रव्य मिलकर एक पर्याय नहीं बनाते इसका प्रतिपादन निम्न पद्य से करते हैं

कदापि मिलकर परिणमते नहिं, दो पदार्थ नहिं संभव हो,
तथा एक परिणाम न भाता दो पदार्थ में उद्भव हो।
उभय-वस्तु में उसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती॥

९/५४

कर्त्ता कर्म की अपेक्षा इसी को स्पष्ट करते हैं

एक वस्तु के कर्ता दो नहिं इस विधि मुनिगण गाते हैं,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहिं पाये जाते हैं।
एक वस्तु की परिणतियां भी दो नहीं कदापि होतीं हैं,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहिं नहिं होती हैं॥

१०/५५

अनादि काल से जीव की प्रवृत्ति इसके विपरीत है ऐसा भाव निम्न पद्य में प्रदर्शित करते हैं

भव भव भव-वन भ्रमता जीवन भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख महता सदतम-तम में निज द्रोही।
वीतरागमय निश्चय धारे एक बार यदि द्युति शाला,
फैले फलतः प्रकाश परितः कर्म बन्ध पुनि नहिं खारा॥

११/५६

स्वकथन का क्या निष्कर्ष है उसे निम्न पद्य में आचार्य बतातें हैं

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने अपने भावों को,
पर भी करता पर भावों पर पर ना आतम भावों को।
सचमुच सबकुछ परका पर है आतम का बस आतम है,
जीवत भी संजीवन पीवन* आतम ही परमातम है॥

१२/५७

अज्ञानी संसार में भटकता है यही आचार्य बताते हैं

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्गल में रमती है,
गज-सम गन्ना खाती पर ना तृण को तजती भ्रमती है।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति ! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहत भी विफल रही॥

१३/५८

अज्ञान के विलास को दृष्टान्त द्वारा समर्थन करते हैं

रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि में भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग, मृगमरीचिका में पीने भगते मर जाते।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पों का भर्त्ता,
यद्यपि ज्ञान धन व्याकुल बनता तदपि भूल में पर कर्त्ता॥

---

*पेय

१४/५९

जो अज्ञानी होते हैं वे क्या करते हैं इस प्रश्न का समाधान निम्न पद्य से आचार्य करते हैं

सहज ज्ञान से स्वपर भेद को परम हंस यह मुनि नेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हंसा लख लेता।
केवल अलोल चेतन गुण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर न करता मुनि वन मुनि-पन यही निभाता है।।

१५/६०

ज्ञान की महिमा श्रेष्ठ है

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लावण अन्न में ज्ञान कराता यह निश्चय।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक से रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्त्तपन ज्ञान-मूल हो उदित अहा।।

१६/६१

मूढ़ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता धरे ज्ञान की स्थिरता है।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्त्ता अपने भावों का,
परन्तु कदापि आतम नहिं है कर्त्ता पर के भावों का।।

१७/६२

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वयं ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर वह ज्ञान छोड़कर पर को करता आतम है।
पर भावों का आतम कर्त्ता इस विधि कहते व्यवहारी,
मोह-मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव धारी।।

१८/६३

यहां पर प्रश्नोत्तर रूप कलश आचार्य स्वयं उपस्थित करते हैं

चेतन आतम यदि जड़-कर्मों को करने में मौन रहे,
फिर इन पुद्गल कर्मों के हैं कर्त्ता निश्चित कौन रहे?

इसी मोह के तीव्र वेग के अयथार्थ आगम गाता है,
पुद्गल, पुद्गल-कर्मों कर्त्ता जड़ से जड़ का नाता है ॥

१९/६४

अतः यह स्थित हुआ कि

स्वभाव भूता परिणति यह है पुद्गल की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई।
जब जब इस विध निज में जड़ है विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्त्ता होता 'जिन-श्रुति' आशय धरे यही ॥

२०/६५

स्वभाव-भूता परिणति यह है चेतन की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई।
जब जब इस विध निज में चेतन विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्त्ता होता 'जिन-श्रुति' आशय धरे यही ॥

२१/६६

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा कारण कौन रहा है क्यों ना हो अघ आयल है।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूढ़पने से रंजित हो,
क्यों ना होते गत-मल निर्मल, ज्ञानपने से वंचित हो ॥

२२/६७

राग रंग सब तजते नियमित ज्ञानी मुनि ले निज आश्रम,
अतः ज्ञान जाल सिंचित सब ही भाव उन्हीं के हो, भा-मय।
राग रंग में अंग संग में निरत अतः वे अज्ञानी,
मूढ़पने के भाव सुधारें कलुषित पंकिल ज्यों पानी ॥

२३/६८

अज्ञानी जीव के कर्त्तव्य का स्पष्टीकरण करते हैं

निर्विकल्प मय समाधि गिरि से गिरता मुनि जब अज्ञानी,
प्रमत्त बन अज्ञान भाव को करता क्रमशः नादानी।

विकृत विकल्पों विभाव भावों को करता तब निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो हैं सुख से वंचित हैं॥

२४/६९

दोनों नय केवल वस्तु के वर्णन में दो पक्ष हैं किन्तु नयों द्वारा वस्तु के स्वरूप को जानकर पक्षपात रहित होना ही

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्णरूप से विमुख हुए,
निज में गुप लुप छुपे हुए हैं निज के सम्मुख प्रमुख हुए।
विकल्प जल्पों रहित हुए हैं प्रशान्त मानस धरते हैं,
नियत रूप से निशि दिन मुनि 'निजअमृतपान' वे करते हैं॥

२५/७०

इक नय कहता जीव बंधा है, इन नय कहता नहीं बंधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुःखी जगत है तभी सदा।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

२६/७१

भिन्न भिन्न नय क्रमशः कहते आत्मा मोही निर्मोही,
इस विध दृढ़तम करते रहते अपने अपने मत को ही।
पक्षपात से रहित बना है मुनि मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्धज्ञान धन केवल चेतन चेतन है॥

२७/७२

इक नय मत है आत्मारागी इक कहता है गत रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान धन केवल चेतन चेतन है॥

२८/७३

इक नय कहता आत्माद्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुखदात्री मति हो कैसी ?
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभावी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ।।

२६/७४

इन नय रोता आत्मा कर्त्ता कर्त्ता नहिं है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहिं मिलता पक्षपात की यह गाथा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ।।

३०/७५

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहिं है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड़ में अविरल देखो ! वह बहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ।।

३१/७६

इक नय मत में जीव रहा है, इक कहता है जीव नहीं,
पक्षपात से घिरा हुआ मन ! सुख पाता नहिं जीव नहीं ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ।।

३२/७७

जीव सूक्ष्म है सूक्ष्म नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते हैं,
इस विध पक्षपात से जड़ जन भव भव में दुख सहते हैं ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ।।

३३/७८
इक नय कहता जीव हेतु है हेतु नहीं है इक गाता,
इस बिध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहीं पाता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

३४/७९
जीव कार्य है कार्य नहीं है भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध पक्षपात जड़ करते परम तत्व को नहिं गहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभावी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

३५/८०
इक नय कहता जीवभाव है, भाव नहीं है इक कहता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहीं गहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

३६/८१
एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नहीं,
ऐसा चिंतन जड़ जन करते पक्षपात कर दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

३७/८२
जीव सान्त है सान्त नहीं है इस विध दो नय हैं कहते,
ऐसा चिन्तन जड़ जन करते पक्षपात कर दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

३८/८३

जीव नित्य है नित्य नहीं है भिन्न-भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिन्तन पक्षपात है पक्षपात को जड़ गहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ॥

३९/८४

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है, भिन्न भिन्न नय कहते हैं,
इस विध चिन्तन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ॥

४०/८५

इक नय कहता आत्मा नाना, नाना ना है इक कहता,
इस विध चिन्तन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ॥

४१/८६

जीव ज्ञेय है ज्ञेय नहीं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है ॥

४२/८७

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहिं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

४३/८८

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहिं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

४४/८९

जीव आज भी प्रकट स्पष्ट है प्रकट नहिं दो नय गाते,
एक विध चिन्तन पक्षपात है करते जड़ जन दुख पाते।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध ज्ञान-धन केवल चेतन चेतन है॥

४५/९०

अनुभूति मात्र तत्त्व निर्विकल्प है

पक्षपात-मय नयवन जिसने सुदूर पीछे छोड़ दिया,
विविध विकल्पों अल्पों से बस चंचल मन को मोड़ दिया।
बाहर भीतर समरस इक रस महक रहा है, अपने को,
अनुभवता मुनि मूर्तरूप से स्वानुभूति के सपने को॥

४६/९१

मैं केवल चैतन्य तेज हूं

रंग बिरंगी तरल तरंगें क्षण-रुचि* सम झट उठ मिटती,
विविध नयों की विकल्प माला मानस तल में नहिं उठती।
शत शत सहस्रों किरण संग ले झग झग करता जग जाता,
निजानुभवों के बल सम चेतन भ्रम-तम लगभग भग जाता॥

---

*(अ) स्युः प्रभा रुग्रुचिस्त्विड्भा भाश्छवि द्युतिदीप्तयः।
—अमरकोष, १. ३. ३४
(ब) गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्। —वही, ३. ३. २
क्षणरुचि = विद्युत्

४७/६२

मैं अपार समयसार का ही चिन्तन करता हूं

स्वभाव भावों विभाव भावों भावा भावों रहित रहा,
केवल निर्मल चेतनता से खचित रहा है भरित रहा।
उसी सारमय समयसार को अनुभवता कर वन्दन में,
विविध विधी के प्रथम तोड़ के तड़ तड़ तड़ तड़ बन्धन में।।

४८/६३

समयसार ही पुराण पुरुष है भगवान है

निर्भय निश्चल निरीह मुनि जब पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समयसार को सहर्ष सविनय पीता है।
पुण्य पुरुष है परम रूप है पुराण पावन भगवन्ता,
ज्ञान वही है दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता।।

४९/६४

विकल्प मय घन कानन में चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोध रस निज घर में विवेक पथ से आ मिलता।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज में घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से बह बह पुनि व मिल जाता।।

५०/६५

यथार्थकर्ता और कर्म कौन है

विकल्प करने वाला आत्मा कर्त्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर में उठता कर्म नाम वह है पाता।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो भूषित है,
तब तक कर्तृ कर्म पन मल से जीवन उसका दूषित है।।

५१/६६

कर्त्ता और वेत्ता में अन्तर

विराग यति का कार्य स्वयं को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है।

सुधी जानता इसीलिये मुनि कदापि विधि को नहिं करता,
कुधी जानता कभी नहीं है चूंकि निरन्तर बिधि करता ॥

५२/६७

जानने और करने में भेद

ज्ञप्ति क्रिया में शोभित होती कदापि करोति क्रिया नहीं,
उसी तरह बस करण-क्रिया में ज्ञप्ति क्रिया वह जिया ! नहीं।
करण क्रिया औ' ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न हैं अतः यदा,
ज्ञाता कर्त्ता भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वतः सदा॥

५३/६८

कर्म न यथार्थ कर्त्ता में हो नहीं कर्म करता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृपन सत्ता हो।
ज्ञान ज्ञान में कर्म कर्म में अटल सत्य बस रहा यही,
खेद ! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचता रहा वहीं॥

५४/६६

चिन्मय द्युति से अचल उजलती ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अन्तर्जगतीतल को परितः उज्ज्वल कर पाती।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता रहता पुद्गल पुद्गल है,
ज्ञान कर्म का कर्त्ता नहिं है ढले न विधि में पुद्गल है॥

॥ इतिकर्तृकर्माधिकारः समाप्तः ॥

दोहा

निज गुण कर्त्ता आत्म है पर कर्त्ता पर आप।
इस विध जाने मुनि सभी निजरत हो जो पाप॥

प्रमाद जब तक तुम करो पर कर्त्तापन मान।
तब तक विध-बंधान हो हो न समय का ज्ञान॥

१/१००

भेद शुभाशुभ मिस से द्विविधा विधि है स्वीकृत यदपि रहा,
उसको लखता निज अतिशय से बोध 'एक विध' तदपि रहा।
शरद चन्द्र सम बोध चन्द्रमा निर्मल निश्चल मुदित हुआ,
मोह महा तम दूर हटाता सहज स्वयं अब उदित हुआ॥

२/१०१

ब्राह्मणता के मद वश इक है मदिरादिक से बच जीता,
स्वयं शूद्र हूं इस विध कहता मदिरा प्रतिदिन इक पीता।
यद्यपि दोनों शूद्र रहे हैं युगपत् शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति-भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने हैं समझे॥

३/१०२

कर्म हेतु है पुद्गल-आश्रय पुद्गल स्वभाव फल पुद्गल,
अतः कर्म में भेद में है अभेद नय से सब पुद्गल।
और शुभाशुभ बंध अपेक्षा एक इष्ट है बन्धन है,
अतः कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि रंजन हैं॥

४/१०३

सभी कर्म बन्ध के ही कारण है ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है ऐसा निम्न पद्य द्वारा प्रकट करते हैं

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव बन्धन का साधक है,
मोक्ष मार्ग में इसीलिए वह साधक नहिं है बाधक है।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिव का साधक है दुख हारक है,
वीतराग सर्वज्ञहितंकर कहते शिव-सुख साधक हैं॥

५/१०४

सर्व क्रियाओं से रहित साधु को ज्ञान का आश्रय ही शरणाभूत होता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं

पूर्ण शुभाशुभ करणी तज बन निष्क्रिय निज में निरत रहें,
मुनिगण अशरण नहिं, पर सशरण अविरत से वे विरत रहें

ज्ञान ज्ञान में घुल जाना मुनि की परम शरण बस है,
निशि दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस हैं।।

६/१०५

ज्ञान ही मुक्ति का हेतु है इससे भिन्न सभी कर्म बन्धन के हेतु हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं

अमिट अतुल है अनुपम आतम ज्ञान-धाम वह सचमुच है,
मोक्ष मार्ग है मोक्ष धाम है स्वयं ज्ञान ही सब कुछ है।
उससे न्यारा सारा खारा बन्ध हेतु है बन्धन है,
ज्ञानी-लीनता वही स्वानुभव शिव पथ उसको वन्दन है।।

७/१०६

शुद्धानुभूति ही स्वरूपा चरण है ऐसा प्रतिपादन करते हैं वही मोक्ष का हेतु है

ज्ञान ज्ञान में स्थित हो जाता अन्य द्रव्य में नहिं भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता।
आत्म द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्ष मार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है।।

८/१०७

जब आत्मा संसार में ज्ञान रूप परिणमन न कर शुभाशुभ कर्म स्वरूप परिणमन करता है तब बन्ध ही होता है मुक्ति नहीं होती ऐसा कहते हैं

कर्म मोक्ष का नियम रूप से हो नहिं सकता कारण है,
स्वयं बन्धमय कर्म रहा है भव बन्धन का कारण है।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अतः यहां पर निषेध उसका करते जिन मुनि शासक है।।

९/१०८

शुभाशुभ कर्म मोक्ष प्राप्ति में बाधक होने से मोक्ष के कारण नहीं है ऐसा प्रतिपादन करते हैं

कर्म रूप में यदि ढलता है मानो ज्ञान वह भूल अहा !
ज्ञान ज्ञान नहिं हो सकता वो ज्ञानपने से दूर रहा।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृण्मय मूर्त अचेतन है,
अतः कर्म नहिं मोक्ष हेतु नहिं-हो सकता सुख केतन है ।।

१०/१०९

मोक्ष मार्गी को निष्कर्म दशा प्राप्त करनी चाहिए जो अपने स्वाभावरूप है ऐसा प्रतिपादन करते हैं

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग में कर्म त्याज्य जड़ पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कर्दम दलदल है।
दृग व्रत आदिक निजपन में ढल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वयं सुखी तब बन पाते ।।

११/११०

सम्यग्दृष्टि की क्रियाएं भी मोक्ष की साधनभूत नहीं है

कर्त्ता नहिं पर मोह उदय वह होता मुनि में जब तक है,
समीचीन नहिं ज्ञान कहाता अबुद्धि-पूर्वक तब तक है।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि में,
राग बन्धका, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहिं पै ।।

१२/१११

ज्ञान बिना रट निश्चय निश्चय निश्चय वादी भी डूबे,
क्रिया कलापी भी ये डूबे डूबे संयम से ऊबे।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चय शैल रहे,
आत्म-ज्ञान में लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ।।

१३/११२

पुरुषार्थी को अपनी परम कला के साथ क्रीड़ा करने वाली पूर्ण ज्ञान ज्योति प्रकट होती है ऐसा कहते हैं

भ्रम वश विधि में प्रभेद करता मोह मद्य पी नाच रहा,
राग-भाव जो जड़मय जड़ से निज बल में झट काट अहा।
सहज मुदित शुचि कला संग ले केली अब प्रारम्भ किया,
भ्रम-तम-तम को पूर्ण मिटाकर पूर्ण ज्ञान शशि जन्म लिया।।

।। इति पुण्यपापाधिकारः समाप्त ।।

दोहा

विभाव परिणति यह सभी पुण्य रहो या पाप।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप पुण्य परिताप।।

पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य फल भोग।
पुनः पुण्य मिटता धरो आतम-निर्मल योग।।

१/११३

किसी नाटक को रंगभूमि में अपना अभिनय प्रदर्शन करने वाला नट अपने वेष की महत्ता से उन्मत्त हुआ विविध रूप नृत्य करता है इसी प्रकार आस्रव तत्व रंग भूमि में अवतरित होता है। निम्न पद में इसी का वर्णन है

आस्रव भट झट कूद पड़ा है क्रुद्ध हुआ है अबरण में,
महामान का रस वह जिसके भरा हुआ है तन मन में।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्य धारी उस पर टूटा धृति-धर है,
क्षण में आस्रव जीत विजेता वह बलधारी सुखकर है।।

२/११४

ज्ञान भाव क्या है और वह कैसे आस्रव को रोकता है इसका निरूपण करते हैं

राग रोष से मोह द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुआ है जिन आगम का भाव यही।

नियम रूप से अभाव मय है भावास्रव का रहा वही,
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही॥

३/११५

ज्ञानी निरास्रव कैसे है यह बताते हैं

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हूं वनके जाना मुनि ध्यानी।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड़ से ज्ञायक सही रहा॥

४/११६

ज्ञानी भावास्रव के अभाव को कैसे प्राप्त करता है इसका स्पष्टीकरण इस पद्य में है

सबुद्धि पूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते हैं,
अबुद्धि पूर्वक राग मिटाने बार बार निज छूते हैं।
यमी ज्ञान की चंचलता को तभी पूर्णतः अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवल ज्ञानी बनने निज में स्वको बिठा॥

५/११७

सम्पूर्ण द्रव्यकर्म जो बद्ध है उनके रहते हुए ज्ञानी निरास्रव कैसे है ऐसा प्रश्न उपस्थित करते हैं

जिसके जीवन में वह अविरल दुरित दुःखमय जल भरिता,
जड़मय पुद्गल द्रव्यास्रव की बहती रहती निज सरिता।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इह विध हो कहते,
ऐसी शंका मन में केवल शठजन भ्रम वश हो गहते॥

६/११८

उक्त प्रश्न का समाधान निम्न कलश में आचार्य स्वयं करते हैं

उदय काल आता नहिं जब तक तब तक सत्ता नहिं तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते ज्ञान जन के उर सजते।
पर न नूतन नूतन विधि आ उनके मन पै अंकित हो,
रागादिक से रहित हुए हो जब मुनि पूर्ण अशंकित हो॥

७/११९

रागद्वेष मोह भाव ही बंधक है

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लांछन,
संभव हो न असम्भव ही है वह तो उज्ज्वलतम कांचन।
वीतराग उन मुनि जन को फिर प्रश्न नहिं विधि बन्धन का,
रागादिक ही बन्धन कारण कारण है मन स्पन्दन का।।

८/१२०

निरास्रवी जीवों की स्थिति का वर्णन

निर्मल-विकसित-बोधधाम मय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन-का निग्रह करते रहते मुनि जन गुण गण के आलय।
राग मुक्त हैं दोष मुक्त हैं मुनि वे मुनि जन रंजन हैं,
समरस पूरित समयसार का दर्शन करते वन्दन हैं।।

९/१२१

जो जीव रागादि मुक्त अपने को नहीं बना सकते वे जानते भी हों तो भी कर्मास्रव करते हैं ऐसा अभिप्राय निम्न छन्द से आचार्य प्रकट करते हैं

जब यति विशुद्ध नय से चिगते उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावों निश्चित करते आत्म-बोध ही तब भूले।
विगत समय में अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्प दल,
करते बंधते विविध विधि के बन्धन से खो अनल्प बल।।

१०/१२२

यही सार है समयसार का छन्द यहां है यह गाता,
हेय नहीं है विशुद्ध नय पर ध्येय साधु का वह साता।
तथापि उसको जड़ ही तजते भगते विधि के बन्धन को,
जो नहिं मुनि जन तजते इसको भजते नहिं विधि बन्धन को।।

११/१२३

शुद्धात्मा ज्ञान ही ऐसा प्रबल हेतु है जो आत्मा को निष्कर्मा बना देता है अतः उसे प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है ऐसा निम्न कलश में प्रतिपादन करते हैं

अनादि अक्षय अचल बोध में धृति बांधे विधि नाशक है,
अत: शुद्धनय उन्हें त्याज्य नहिं मुनि या मुनि जन शासक है।
लखते इसमें स्थित मुनि निज बल आकुंचन कर बहिरता,
एक ज्ञान धन पूर्ण शान्त जो अतुल अचल द्युति मम भाता ।।

१२/१२४

यह स्थिति कैसे प्रगट होती है उसका वर्णन निम्न पद्य में करते हैं

रागदिक सब आस्रव विघटे जब निज मंदिर में अन्दर,
झांक झांक कर देखा मुनि ने दिखता झक झक अति सुन्दर।
तीन जगत के जहां चराचर निज प्रति-छवि ले प्रकट रहें,
अतुल अचल निज किरणों सह वह बोध भानु मम निकट रहें ।।

।। इति आस्रवाधिकार: समाप्त ।।

दोहा

राग रोष अरु मोह से रंजित वह उपयोग।
वसु विध-विधि का नियम से पाता दुखकर योग ।।

विराग समकित मुनि लिये जीता जीवन सार।
कर्मास्रव से तब बचे निज में करें विहार ।।

१/१२५

संवर तत्त्व का स्वरूप ज्ञान ज्योति से ही प्रगट होता है ऐसा आचार्य बताते हैं

संवर का रिपु आस्रव को यम मन्दिर बस दिखलाती है,
दुख हर सुखकर, वर संवर धन सहज शीघ्र प्रकटाती है।
पर परिणति से रहित नियम नित निज सम्यक् विलस रही,
ज्योति शिखा वह चिन्मय निज स्वर किरणावलि से विहस रही ।।

२/१२६

आचार्य कहते हैं कि भव्य जीवो ! भेदज्ञान की उत्पत्ति हो रही है अतः प्रमुदित हो जाओ

ज्ञान राग ये चिन्मय जड़ से किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हें विभाजित निज बल से कर स्व पर बोध उर देख जगे।
उस भेद ज्ञान का आश्रय ले तुम बन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान धन का रस चाखो सकल संग के हो त्यागी।।

३/१२७

अपने सतत प्रत्यन से भेदज्ञान को स्थिर रखने से आत्मा सिद्धि होगी

धारा प्रवाह बहने वाला ध्रुव बोधन में सुरत यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध बनता तुरत दमी।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन-में तब आतम रमता है,
पर परिणति से पर द्रव्यन में पल भर भी नहिं भ्रमता है।।

४/१२८

जिन्हें शुद्धात्मा तत्त्व की प्राप्ति हुई है उनको मोक्ष होता है

अनुपम अपनी महिमा में मुनि भेद ज्ञान वश रमते हैं,
शुद्ध तत्त्व का लाभ उन्हें तब हो हम उनको नमते हैं।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहें,
मोक्षधाम बस पास लगेगा सभी कर्म चकचूर रहें।।

५/१२९

संवर कैसे होता है

विराग मुनि में जब जब होता भव हर, सुखकर संवर है,
शुद्धातम के आलम्बन का फल कहते दिग् अम्बर है।
शुचितम आतम भेद ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद ज्ञान तू इसीलिये भज जिससे जीवन खिलता है।।

६/१३०

भेद विज्ञान की कब तक भावना करनी चाहिए

तब तक मुनिगण अविकल अविरल तन मन वच से बस भावें,
भेद ज्ञान को, जीवन अपना समक्ष उसी में रम जावें।
ज्ञान ज्ञान में सहज रूप से जब तक स्थिरता नहिं पावें,
पर परिणतिमय चंचलता को तज निज पन को भज पावें॥

७/१३१

बन्ध मोक्ष का हेतु क्या है इसका विवरण

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे।
भेद ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव बन फिरते हैं,
विधि बन्धन में बंधे मूढ़जन भवदधि नहिं ये तिरते है॥

८/१३२

यह भेद विज्ञान आत्मा का स्वरूप है अतः स्वरूप बोध ही आत्मा की मुक्ति का हेतु है

भेद ज्ञान बल शुद्ध तत्त्व में निरत हुआ मुनि तज अम्बर,
राग रोष का विलय किया पुनि किया कर्म का वर संवर।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुआ है खुला है एक आप बस भास्वत है॥

॥ इति संवराधिकारः समाप्त ॥

दोहा

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर छाव।
रागादिक पुनि मनि मिटा भजते संवर भाव॥

बिन रति-रस चख जी रहें निज घर में कर वास।
निज अनुभव-रस पी रहें उन मुनि का मैं दास॥

१/१३३

निरावरण ज्ञान ज्योति रागादि विकारी भावों से आच्छवित नहीं होती

रागादिक सब आस्रव भावों को निज बल से विदारता,
संवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता।
धधक रही अब सही निर्जरा पूर्व-बद्ध विधि जला जला,
सहज मिटाती रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला।।

२/१३४

कर्मोदय का भोगने वाला ज्ञानी बन्ध को प्राप्त नहीं होता यह दिखाते हैं

यह यत्र निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि का विरागता की समता में रममानन की।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नहीं वह विधि से बंधता बंधे असंयत पर रागी।।

३/१३५

जो अरुचि पूर्वक विषय सेवन करता है वह सेवन कर्त्ता नहीं असेव कर्त्ता ही है

इन्द्रिय विषयों का मुनि सेवन करता रहता है प्रतिदिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहिं पाता, रहता है रति बिन।
आतम ज्ञान के वैभव का औ' विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहिं हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल।।

४/१३६

सम्यग्दृष्टि चाहे चतुर्थ गुण स्थानवर्ती अव्रती भी हो तो भी उसे आंशिक रूप में ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है

ज्ञान शक्ति को विराग बल को सम्यग्दृष्टि ढोती है,
पर को तजने निज को भजने में जो सक्षम होता है।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निजमें रमता पर-रति तजता राग करें नहिं किंचित् भी।।

५/१३७

सम्यग्दृष्टि अबन्धक होता है ऐसा सुनकर जो उन्मत्त हो जाता है आत्मा अनात्मा का भेद ज्ञानी यदि नहीं होतो तो वह सम्यकत्व शून्य मात्र अभिमानी है ऐसा कहते हैं

दृग धारक* हम अतः कर्म नहिं बंधते हमसे बनते हैं,
रागी मुनि ही इस विध बकते वृथा गर्व से तनते हैं।
यदपि समितियां पालें वे तो फिर भी अघ से रंजित है,
स्वपर-भेद के ज्ञान बिना वे समदर्शन से वंचित हैं॥

६/१३८

अचल चैतन्य धातु की मूर्ति आत्मा का निजस्वरूप ही उसका यथार्थ पद है यह कहते हैं

चिर से रागी प्रमत्त बनके भ्रम वश करता शयन जहां,
दुख कर पर घर, निज घर नहिं वो जान ! खोल तू नयन अहा!
निज घर तो बस निज घर ही है सुखकर है सुख केतन है,
शुद्ध शुद्धतर विशुद्धतम है अक्षय ध्रुव है चेतन है॥

७/१३९

एक ही पद निरापद है

पद पद पर वहु पद मिलते हैं पर वे दुख प्रद पर-पद हैं,
सब पद में बस पद ही वह पद सुखद निरापद **'निज-पद'** है।
जिसके सम्मुख सब पद दिखते अपद दलित पद आपद हैं,
अतः स्वाद्य है पेय **'निजी पद'** सकल गुणों का आस्पद है॥

८/१४०

ज्ञान के विकल्प ज्ञेय के कारण हैं अतः उन विकल्पों से भी दूर सामान्य ज्ञान ही उपादेय है

आदी आत्मा निज अनुभव का ज्ञान ज्ञान को रख साता,
भेद भिन्नता खेद खिन्नता घट हटा कर इक भाता।

---

*सम्यग्दृष्टि

ज्ञायक रस से पूरित रसको केवल निशि दिन चखता है,
नीरस रस मिश्रित रस को नहिं चखता मुनि निज लखता है ।।

६/१४१

शुद्ध चैतन्य ज्ञान कल्लोलों का स्वयं रत्नाकर है

सकल अर्थ मय रस पी पीकर मानो उन्मद सी निधियां,
उजल उजल ये उछल उछलती निज संवेदन की छवियां।
अभिन्न चिन्मय रस पुरित हैं भगवन सागर एक रहें,
अगणित लहरें उठती जिनमें इसीलिए भी नैक रहें।।

१०/१४२

स्वसंवेद्यमान ज्ञान ही मोक्ष है

सूख सूखकर सोंठ भले हों-शिवपथ-च्युतव्रत भरणों से,
तपन तप्त हो तापस गिरी पे केवल जप तप चरणों से।
मोक्ष मात्र नित निरा निरामय निज संवेदन ज्ञान सही,
ज्ञान बिना मुनि पा नहीं सकते शिव को इस विध ज्ञान सही ।।

११/१४३

निजपद के अवलम्बन से ही मुक्ति है अतः उसे प्राप्त करो

मोक्ष धाम यह मिले न केवल क्रिया काण्ड के करने से,
परन्तु मिलता सहज सुलभ निज बोधन में नित चरने से।
सदुपयोग तुम करो इसी से स्वीय बोध जब मिला तुम्हें,
सतत यतन यति जगत* ! में करो मिले शिव किला तुम्हें ।।

१२/१४४

अपनी ज्ञानकला ही चिन्तामणि रत्न है

ज्ञानी मुनि तो सहज स्वयं ही देव रूप है सुख शाला,
चिन्मय चिन्तामणि चिन्तित को पाता अचिंत्य बल वाला।
काम्य नहीं कुछ कार्य नहीं कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर संग्रह को अतः सुधी नहिं होगा था है बाध्य हुआ ।।

---

*जागृत

१३/१४५

पर-परिग्रह का त्यागी आत्मदर्शी स्वयं अज्ञान से मुक्त होकर संयमी बनता है

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिव मग को,
तजकर इस विध विविध संग को दशविध बाहर के अघ को।
भीतर घुस घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने, मिटा रहा है, मानस-कालुष सरणी को।।

१४/१४६

ज्ञानी जीव भेद ज्ञानी होने से पूर्व कर्म विपाक में भी दुःखी नहीं होते

गत जीवन में अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड़ तब जाता है।
विषयों के रस चखने पर वे रस के प्रति नहीं रति रखते,
विगतराग है परिग्रही नहिं नियमित निज में मति रखते।।

१५/१४७

ज्ञानी निष्कांक्षित है अतः इच्छा नहीं करता किन्तु विरक्तता को ही प्राप्त होता है इसका कारण बताते हैं

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनों मिटते क्षण, क्षण से,
इसीलिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से।
विराग झरना जिस जीवन में झर झर कर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है।।

१६/१४८

ज्ञानी परिग्रहवान् क्यों नहीं है इसका दृष्टान्त से समर्थन करते हैं

विषय राग के रसिक नहीं मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह मूल परिग्रह ही है भाव परिग्रह नहिं रखते।
रंग लगाओ वसन रंगेगा किन्तु रंग झट उड़ सकता,
हल्दी फिटकरि लगे बिना ही गाढ़ रंग कब-चढ़ सकता।।

१७/१४६

सर्वार्थ निर्लिप्तता को पुनः दुहराते हैं

विषय विषय विष, ज्ञानी जन न कभी भूल कर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते।
कर्म कीच के बीच रहे यति परन्तु उससे ना लिपते,
राग द्वेषी गृही असंयत पाप पंक से पर लिपते ॥

१८/१५०

रागादि जीव के स्वभाव नहीं है ऐसा ज्ञानी बताते हैं

जिसका जिस विध स्वभाव हो, हो उसका तिस विध अपनापन,
उसमें अन्तर किस विध फिर हम ला सकते है अधुनापन।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नहीं,
भोगो ज्ञानिन् ! पर-वश विषयों तज रति, विधि बंधान नहीं ॥

१९/१५१

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हूं कहता,
वितथ भोगता तब ए ! ज्ञानी भोग बुरा क्यों दुख सहता।
भोगत 'बंध' न हो यदि कहता भोगेच्छा क्या है मन में ?
ज्ञान लीन बन नहिं तो !! रति वश जकड़ेगा विधि बन्धन में ॥

२०/१५२

कर्त्ता को विधि बल पूर्वक ना कभी निजी फल देता है,
कर्त्ता विधि फल-चखना चाहे खुद विधिफल चख लेता है।
विधि को कर भी मुनि ! विधि फल को तजता परता सब जड़ता,
विधि फल में ना रचता पचता ना बन्धन में तब पड़ता ॥

२१/१५३

जिसने कर्म के फल का परित्याग किया है वह ज्ञानी है, उसकी क्रिया भी अबन्धक है ऐसा कहते हैं

विधि फल में तज भी विधि करते मुनि इस विधि हमना हैं कहते,
परन्तु पर वश विधि वश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते !

कौन कहें विधि ज्ञानी करते जब या रहते अमल बने,
आ आ गिरते विधि रहते निज-ज्ञान भाव में अचल तने ।।

२२/१५४

कर्म के तीव्रोदय में मुनि पर घोरोपसर्ग आते हैं, तब उस घोर दुःख को [जो उदयागत कर्म का फल है] ज्ञानी साधु कैसे दूर कर सकते हैं इस प्रश्न का समाधान निम्न कलश द्वारा आचार्य बताते हैं

वज्र पात भी मुनि पर हो पर घर दृढ़ दृग धृति जपता है,
जब कि जगत यह कायर भय से पीड़ित कप कप कपता है।
आत्म बोध से चिगता नहिं है, ज्ञान धाम निज लखता है,
निसर्ग निर्भय निसंग वन कर भय ना उर में रखता है ।।

२३/१५५

एक लोक है विरत आत्मा का चेतन जो है शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत हैं।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा,
निशंक मुनि अनुभवता तब बस स्वयं ज्ञान बन कर ऐसा ।।

२४/१५६

भेद-रहित निज सुवेद्य वेदक-बल से केवल संवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञान मय इक चेतन।
परकृत परिवेदन पीड़न से ज्ञानी को फिर डर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।

२५/१५७

जो भी सत् है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वयं सत् रहा कौन फिर उसका पर हो तब भाता?
अतः अरक्षाकृत भय ज्ञानी जन को होगी फिर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ।।

२६/१५८

अगुप्ति भय भी सम्यग्दृष्टि को नहीं होता ऐसा निम्न कलश में प्रतिपादन करते हैं

वस्तु रूप ही गुप्ति रही बस उसमें नहि पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है।
अतः अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किस से डर कैसा,
सहज ज्ञान को स्वयं मुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा॥

२७/१५९

ज्ञानी मरण से भी भयभीत नहीं होता। क्यों नहीं होता यह पद्य में आचार्य बताते हैं

प्राणों का हो कण कण खिरना मरण नाम बस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नहीं मिट यह जाता।
मरण नहीं निज आतम का है अतः मरण से डर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं मुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा॥

२८/१६०

आदि अन्त से रहित अचल है एक ज्ञानी है उचित सही,
आप स्वतः है जब तक तब तक उसमें पर हो उदित नहीं।
आकस्मिक निज में ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिश्वर ऐसा॥

२९/१६१

सम्यग्दृष्टि निश्शंक निर्भय होता है यह सम्यकत्व का एक अंग हुआ जिसे निःशंकित अंग कहते हैं सम्यग्दर्शन के और भी सात अंग हैं उनके क्या फल हैं

समरस पूरित शुद्ध वोध का पावन भाजन बन जाता,
विराग दृग धारक विधि नाशक दृष्टि अंग वसु धन पाता।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गंध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगत भी विधि बन्धन न हो॥

३०/१६२

सम्यग्दृष्टि जीव इन गुणों के कारण ही अपूर्व कर्मों का संवर तथा पूर्व की निर्जराकरता है इस बात को निम्न पद्य से प्रकाशित करते हुए आचार्य निर्जराधिकार को पूर्ण करते हैं

अष्ट अंग दृग संग सम्भाले नव्य कर्म का कर संवर,
बद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अम्बर।
आदि अन्त से रहित ज्ञान बन स्वयं मुदित हो दृग धारी,
तीन लोक के रंग मंच पर नाच रहा है अघहारी॥

॥ इति निर्जराधिकारः समाप्त ॥

दोहा

साक्षी बन कर विषय का करते मुनिवर भोग।
पूर्ण-कर्म की निर्जरा हो तब शुचि उपयोग॥

बंध किये बिन बंध का बंधन टूटे आप।
महिमा यह सब साम्य की विराग दृग की छाप॥

१/१६३

संसार के रंगमंच पर जब बन्ध जगत् को उन्मत्त करता हुआ क्रीड़ा कर रहा था, तब ज्ञान का उदय उसकी मत्तता को मेंट कर स्वयं प्रकाशमान होता है

बन्ध तत्त्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को मत्त बनाकर खेल रहा था खुला खुला।
धीर निराकुल उदार मानस ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस पीकर अब बन्ध तत्त्व को भगा रहा॥

२/१६४

जगत का प्राणी सांसारिक क्रियाओं के करते रहने पर भी कर्म लिप्त नहीं होता। इस बात को निम्न पद्य से प्रगट करते हैं

सचित्त अचित का बध नहिं विधि के बंध हेतु ना इन्द्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहिं है चंचलतम भी 'मन बच तन'।

राग रंग में रचता पचता रागी का उपयोग रहा,
केवल कारण विधि बन्धन का यों कहते मुनि लोग अहा ।।

३/१६५

रागादि रहित विरागी के कर्म बन्ध नहीं होता इसे निषेध मुखेन प्रतिपादित करते हैं

यदपि भले ही इन्द्रियगण हो चिदचित् वध हो क्षण-क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा औ' चंचलतर ये तन मन हो।
राग रंग से रंजित करता यदि नहिं शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृग धारक मुनि पाता नहिं विधि-योगन को ।।

४/१६६

नहीं उपदेश का यथार्थ प्रयोजन निम्न कलश में आचार्य स्पष्ट करते हैं

परन्तु ज्ञानी मुनि को बनना स्वेच्छाचारी उचित नहीं,
उच्छृंखलपन बंध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नहीं।
इच्छा करना तथा जानना युगपत दो ये नहिं बनते,
बिना राग के कार्य अतः हो मुनि के नहिं तो ! विधि तनते ।।

५/१६७

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि बन्धन,
जो विधि करता नहिं निज लखता यही राग का अनुरंजन।
राग रहा है अबोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्या दर्शन बन्ध हेतु वह जिन वाणी का यह आशय ।।

६/१६८

नियत रहे हैं सभी जगत में सुख देख मृतिभय जनना रे,
अपने अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे।
सुख दुख देता पर को जीवित करता मैं निज के बल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलतः बंचित केवल से ।।

७/१६६

पर से जीवन जीता जग है सुख दुख पाता मरता है,
इस विधि जड़ ही कहता रहता मूढ़ पना बस धरता है।
वसु विधि विधि को करता फलतः अहंकार मद पीता है,
मिथ्यादृष्टी निजघातक है दानव जीवन जीता है॥

८/१७०

जग के पोषण पोषण का यह मिथ्यादृष्टी का आशय,
बोध विनाशक नियम रूप से अबोध-तम तम का आलय।
कारण ! उसका आशय निश्चित भ्रम है भ्रम का कारण है,
दुखद विविध वसुविध-विधि के बस, बन्धन है असु मारण है॥

९/१७१

दुखमय अध्यवसायन कर कर निज अनुभव से स्खलित हुआ,
दीन हीन मति हीन हुआ है समोहित है भ्रमित हुआ।
मोही प्राणी सबको अपना कहता रहता भूल रहा,
इसलिए वह इन्द्रिय विषयों में निशिदिन जो झूल रहा॥

१०/१७२

मोह की महिमा अनुपम है ऐसा बताते हैं

सकल विश्व से पृथक रहा वो यद्यपि आत्मा अपना है,
तथापि पर को अपना कहता करता मोही सपना है।
अध्यवसायन दल यह केवल मोह मूल ही है इसका,
स्वप्न दशा में भी ना यतिवर आश्रय लेते हैं जिसका॥

११/१७३

अध्यवसायन को कहते जिन त्याज्य त्याज्य बस निस्सारा,
जिसका आशय मैं लेता बस छुड़वाया सब व्यवहारा।
शुद्ध ज्ञान धन में धृति फिर भी क्यों ना धारण करते हैं,
निश्चल बन मुनि निज छवि में नहिं हा ! क्या कारण चरते हैं॥

१२/१७४

शुचिमय चेतन से हैं न्यारे रागादिक अद्य ये सारे,
वसु विध विधि के बन्धन कारण यह तुम मत जिन ! ए प्यारे।
रागादिक का पर क्या कारण पर है अथवा आतम है,
इस विधि शंका यदि जन करते कहते तब परमातम है॥

१३/१७५

रागादिक कालुष परिणतियां यद्यपि आतम में होतीं,
स्वभाव से पर वे ना होतीं विधि के निमित्त वश होतीं।
मोह पाक ही उसमें कारण वस्तु तत्त्व यह उचित रहा,
सूर्य बिम्ब वश सूर्यकान्तमणि से ज्यों अगनी उदित अहा॥

१४/१७६

ज्ञानी अपने को रागादि रूप नहीं करता इसका उल्लेख इस कलश में करते हैं

इस विधि पर की बिना अपेक्षा वस्तु तत्व का अवलोकन,
सहज स्वयं ही ज्ञानी मुनिजन करते पर का कर मोचन।
रागादिक से अतः स्वयं को करते नहीं कलंकित हैं,
कर्त्ता कारक बनते नहिं हैं फलतः सदा अशंकित हैं॥

१५/१७७

अज्ञानी वस्तु स्वभाव को नहीं जानता, अतः तद्रूप परिणमन करता है ऐसा प्रतिपादन करते हैं

वस्तु तत्व का रूप कभी ना जिनके दृग में अंकित हैं,
अज्ञानी वे कहलाते हैं निज के सुख से वंचित हैं।
रागादिक से अतः स्वयं को करते सदा-कलंकित हैं,
कर्त्ता कारक बनते नहिं हैं फलतः पामर शंकित हैं॥

१६/१७८

इस विध विचार विविध विकल्पों को तजने निज भजते हैं,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते हैं।

निजी निरामय संवेदन से भरित आत्म को पाते हैं,
बन्ध मुक्त बन भगवन अपने में तब आप सुहाते हैं ।।

१७/१७६

बहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि बंध मिटा बन निरा अदय,
विधि बन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय।
भ्रम-तम-तम को तथा भागता ज्ञान भानु अब उदित हुआ,
जिसके बल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुआ ।।

।। इति बन्धाधिकारः समाप्त ।।

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहिं वसुविध-विधि-बंध ।
रागादिक ही नियम से बंध-हेतु-सुन-अंध ।।

बन्ध तत्व का ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात स्वाश्रित हेतु ।।

१/१८०

इस प्रकरण में मोक्ष तत्व का वर्णन करते हैं। अथवा रंगमंच पर मोक्ष तत्व आता है

भिन्न-भिन्न कर बन्ध पुरुष को प्रज्ञामय उस आरे से,
बिठा पुरुष को मोक्ष धाम में उठा भवार्णव-खारे से।
परम सहज निज चिदानन्दमय-रस से पूरित शील अहो,
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ।।

२/१८१

आत्म कर्म की सूक्ष्म संधि में प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञावाली पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके।
अबोध-विभाव में विधि, शुचि-ध्रुव चेतन में निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर करे दूर बहु हा! तम को ।।

३/१८२

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उसे भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊं मैं क्षण क्षण से।
कारक गुण धर्मादिल से मुझ में भले ही कुछ भेद रहे
तथापि शुचिमय विभुमय चिति में भेद नहीं गत भेद रहे ।।

४/१८३

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेष नहिं रह पाते तजना निज को तभी सुनो।
निजको तजता भजता जड़ता बिना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अतः नियम से आत्म ज्ञान दृग का केतन ।।

५/१८४

आत्मीय क्या है

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब पर के पर हैं तू क्यों उनमें फसता है।
उपादेय है ज्ञेय देय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय है पर के सारे सुखद-अचेतन भाव कदा ।।

६/१८५

जिन की मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधें,
छविमय द्युतिमय एक आपको शुचितम करके शिव साधें।
विविध भाव है जो कुछ लसते मुझसे विभिन्न पन धारे,
मैं बस चेतन ज्ञान निकेतन ये पर सारे हैं खारे ।।

७/१८६

पर द्रव्य का ग्रहण अपराध है ऐसा कहते हैं

जड़मय पुद्गल पदार्थ दल का पर का संग्रह करता है,
वसु विध विधि से अपराधी वह बंधता विग्रह धरता है।
निरपराध मुनि विराग बन के निज में रमता भज संवर,
बंधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अंबर ।।

८/१८७

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधिपाता,
विधि से बंधता निरपराध नहिं यति वर निजकी निधि पाता।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध बन दुख पाता॥

९/१८८

विलासतामय जीवन जीते प्रमत्त जन को धिक्कारा,
क्रिया काण्ड को छुड़ा मिटाया चंचलतम मन की धारा।
शुद्ध ज्ञान की उपलब्धी जीवन में नहिं हो जब लौं,
निश्चित निज में उनको गुरु ने विलीन करवाया तब लौ॥

१०/१८९

प्रतिक्रमण ही विष है खारा जाया जिसने जब ऐसा,
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तब कैसा?
बार बार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो,
क्यों ना ऊपर ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो॥

११/१९०

कौन साधु शीघ्र मुक्ति प्राप्त करता है उसका वर्णन करते हैं

प्रमाद मिश्रितभाव प्रणाली शुद्धभाव नहिं वह साता,
काषायरंजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता।
सरस स्वरस परि-पूरित निजके स्वभाव में मुनिरत होवे,
फलतः पावन शुचिता पावें शिव को, पर अविरत रोवें॥

१२/१९१

शुद्ध और मुक्त होने का क्या मार्ग है कौन व्यक्ति उसे प्राप्त करता है। इसका समाधान करते हैं

विकृत विभावों के कारण पर द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता निज पदार्थ में मुनि पर को कभी भजता है।

तोड़ तोड़ कर वसु-विध बंधन पाप-पंक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर में स्नपित पूर्ण शुचि होता है।।

१३/१६२

मोक्ष अधिकार को समाप्त करते हुए आचार्य मोक्ष के पवित्र स्वरूप की महिमा का कथन करते हैं

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण ज्ञान पा राग उठा,
जग मग जग मग करता निज को सहज दशा में जाग उठा।
केवल-केवल* रस से पूरित नीर-राशि सम गंभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज तेज से अगम अमित तम समधीरा।।

।। इति मोक्षाधिकारः समाप्त ।।

दोहा

वसु विध विधि का विलयमय निलय रूप का मोक्ष।
व्यक्त-रूप है सिद्ध में तुझ में वही परोक्ष।।
दृग व्रत-समता धार के द्रव्य-भव्य भज आप।
निरा निरामय आत्म हो रूप द्रव्य तज ताप।।

१/१६३

कर्त्त-भोक्तृमय विभाव भावों घटा, मिटा अघ अंजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल बंध मोक्ष के रंजन से।
अचल प्रकट तम महिमाधारी ज्ञान पुंज दृग मंजु सही,
शुद्ध शुद्धतम विशुद्ध शोभित स्वरस पूर्ण द्युति पुण्यमही।।

२/१६४

परका कर्त्तापना वस्तु स्वभाव ही नहीं है यह दिखाते हैं

जैसा चेतन आतम का निज संवेदन निज भाव रहा,
वैसा कर्त्तापन आतम का होता नहिं पर-भाव रहा।
मूढ़पना वश कर्त्ता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढ़पन कर्त्ता नहिं हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी।।

---

*केवल ज्ञान

३/१९५

यदपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा नहिं कर्त्ता है,
तीन लोक में फैल रहा है ले शुचि-चिति द्युति शिव धर्त्ता है।
तदपि मूढ़ता की कोई है महिमा सधनाऽगम न्यारी,
इसलिये विध बंधन होता दुखकारी, सुख शम हारी।।

४/१९६

जैसा कर्त्तापन आतम का होता नहिं निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहिं भोक्तापन भी भाव रहा।
मूढ़पना वश भोक्ता आतमन विषयी मोही अज्ञानी,
उसे नाश कर सुधी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी।।

५/१९७

अज्ञानी विधि फल में रमता निश्चित विधि का वेदन है,
ज्ञानी विधि में रसता नहिं है वेदक ना निज वेदक है।
इस विध विचार मुनिगण तुम को मूढ़पना बस तजना है,
ज्ञान-पने के शुद्ध तेज में निज में निज को भजना है।।

६/१९८

ज्ञान विराग मुनि नहिं विधि का करता वेदन विधि करता,
केवल विधिवत् विधि का विधिपन जाने गुण वारिधि धरता।
कर्त्तापन वेदनपन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म मुक्त ही कहलाता।।

७/१९९

निज को पर का कर्त्ता लखते पर में मुनि जो अटक रहें,
मोहमयी अति घनी निशा में इधर उधर वे भटक रहें।
यदपि मोक्ष की आशा रखते तदपि सदाभव दुःख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहिं अक्षय शिव सुख पाते।।

८/२००

आत्म-तत्व और अन्य तत्व ये स्वतन्त्र स्वतन्त्र रहते हैं,
एक मेक हो आपस में मिल प्रवाह बनना वहते हैं।
कर्तृ-कर्म सम्बन्ध सिद्ध वह इस विध जब ना होता है,
फिर किस विध पर कर्तृ कर्मपन हो, क्यों फिर तू रोता है।।

९/२०१

सभी तरह सम्बन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्बन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी।
वस्तु भेद होने से फिर क्या कर्तृ कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलतः लखते, अब ना निशा रही।।

१०/२०२

ज्ञान तेज अज्ञान भाव में ढला खेद जिनका तातैं,
निज पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते।
मूढ़कर्म वे करते फलतः लखते निज चैतन्य नहीं,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अतः स्वयं है अन्य नहीं।।

११/२०३

कर्म कार्य जब किया हुआ पर जीव प्रकृति का कार्य नहीं,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तब अनिवार्य सही।
मात्र प्रकृति का भी न अचेतन प्रकृति! जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म यों चेतनमय है, पुद्गल ज्ञान न धरता है।।

१२/२०४

मात्र कर्म 'कर्त्ता' यों कहता निज कर्त्तापन छिपा रहा,
कथंचिदात्मा 'कर्त्ता' कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा।
उस निज घातक की लघु धी को महा मोह से मुंदी हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिती यह कही गई।।

१३/२०५

लखे अकर्त्ता मय निज को नहिं जैन* सांख्य** सम ये तब लौ,
कर्त्ता मय ही लखे सदा शुचि-भेद ज्ञान नहिं हो जब लौ।
विराग जब मुनि तीन गुप्ति में लीन, समिति में नहिं भ्रमते,
कर्तृ भाव से रहित पुरुष के बोध-धाम में तब रमते॥

१४/२०६

कर्त्ता भोक्ता भिन्न भिन्न हैं आत्म तत्त्व जब क्षणिक रहा,
इस विध कहना सुगत उपत्सक जिसमें बोध, न तनिक रहा।
चेतन का सुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनाशता,
सरस सुधारस से सिंचन कर मुकुलित कलिका विकासता॥

१५/२०७

अंश भेद ये पल पल मिटते अंशी से अति पृथक रहे,
अतः विनश्वर अंशी है हम वस्तु तत्त्व के अथक रहें।
विधि का कर्त्ता अतः अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विधि एकान्ती मत, तुम तुम धरो जिन मत वन्द्य अहा॥

१६/२०८

शुचितम निजको लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहें!
काल उपाधी वश आतम में अधिक अशुचिपन मान रहे!
सूत्र ऋतु नया, श्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा,
बौद्धौ ने मणि स्वीकारा पर त्यागी माला बिन धागा॥

१७/२०९

कर्त्ता भोक्ता में विधि वश हो अन्तर या ना किंचन हो,
कर्त्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चिन्तन हो।
माला में ज्यों मणियां गुंथी चिति चिन्तामणि आतम में,
पृथक उन्हें कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम में॥

---

*आर्हत् दर्शन

**सांख्य दर्शन

१८/२१०

व्यवहारी प्राणीदृग की ही केवल यह है विशेषता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न भिन्न ही यहां झलकते अशेषता।
निश्चय नय का विषय भूत उस विरागता का ले आश्रय,
मुनि जब लखता निजको भेद न अभेद दिखता सुख आलय॥

१९/२११

आश्रय, आश्रय दाता क्रमशः सुपरिणाम परिणामी है,
अतः कर्म परिणाम उसी का परिणामी वह स्वामी है।
कर्त्ता के बिन कर्म न पदार्थ दोनों का वह भर्त्ता है,
वस्तु स्थिति है निज परिणामों का निज ही बस वह कर्त्ता है॥

२०/२१२

अमिट अमित-द्युति बल ले चेतन जग में बिहार करता है,
किन्तु किसी में वह ना मिलता यों मुनि विचार करता है।
यदपि वस्तुएं परिणमती हैं अपने अपने भावों से,
तदपि वृथा क्यों व्यथित मूढ़ है स्वभाव तज अद्य भावों से॥

२१/२१३

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नहीं बनेगी गुरु गाता,
वस्तु सदा बस वस्तु रहेगी वस्तु तत्व की यह गाथा।
इस विध जब यह सिद्ध हुआ पर परका फिर क्या कर सकता,
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता॥

२२/२१४

अन्य वस्तु के परिणामों में पदार्थ निमित्त बनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता पर कर्त्ता नहिं बनता है।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है करती इस विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टी निश्चय से तुम ना गहना॥

२३/२१५

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने में जब तत्पर हो,
एक द्रव्य बस विलसित होता, नहीं प्रकाशित तब पर हो।
ज्ञेय ज्ञान में तदपि झलकते ज्ञान बना जब शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ़ तू पर में रमता निजपन पर में कर अर्पण ॥

२४/२१६

शुद्ध आतम की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
त्रिपथ विषैली रहे भले पर पृथक पड़ी पर सभी गिरी।
धवलित भूतल करती किरणें शशि की 'भूमय' नहिं होती,
ज्ञान ज्ञेय को जान 'ज्ञेय मय' नहिं हो यह शुचिमय ज्योती ॥

२५/२१७

ज्ञान ज्ञान बन, ज्ञेय निजी को बना, न जब तक शोभित हो,
राग रोष ये उठते उरमें आतम जब तक मोहित हो।
मूढ़ पने को पूर्ण हटा कर ज्ञान, ज्ञान बन पाता है,
अभाव भावों हुए मिटा कर पूर्ण स्वभाव भाता है ॥

२६/२१८

मूढ़पने में ढला ज्ञान ही राग रोष है कहलाता,
समाधिरत मुनि रागादिक को तभी नहीं कर वह पाता।
विराग दृग पा रागादिक का तत्त्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्ष धाम में वास करो ॥

२७/२१९

रागादिक कालुषभावों का पर-पदार्थ नहिं कारण है,
तत्त्व दृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अद्यमारण है।
समय समय पर पदार्थ भर में जो कुछ उठना मिटना है,
अपने अपने स्वभाव-वश ही समझ जरा तू इतना है ॥

२८/२२०

मानस सरवर में यदि लहरें राग-रंग की उठती हैं,
पर को दूषण उसमें मत दो स्वतंत्र सत्ता लुटती हैं।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध-हीन रति करता है,
बोध-धाम मैं सुविदित हो यह अबोध पल में टलता है॥

२९/२२१

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने में,
डरते नहिं हैं कतिपय विषयी जड़ जन इस विध कहने में।
डूबे निश्चित, कभी नहीं वे मोह सिन्धु को तिरते हैं,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव भव दुख से घिरते है॥

३०/२२२

परम विमल निश्चलतामय निजबोध धार पर से ज्ञानी,
दीप घटादिक से जिस विध ना विकृत प्रभावित मुनिध्यानी।
निज पर भेद ज्ञान बिन फिर भी राग रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यों भजते, नजते समता, करते नादानी॥

३१/२२३

राग रोष से रहित ज्योति घर नित निजपन को छूते हैं,
विगत अनागत कर्म मुक्त हैं कर्मोदय ना छूते हैं।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित में हैं अति भाते,
निज रस से सिंचित करती जग 'ज्ञान चेतना' यति पाते॥

३२/२२४

ज्ञान चेतना करने से ही शुद्ध शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर तनता है।
मूढ़पने के संचेतन से बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना, नियमरूप से विधि बन्धन में फसती है॥

३३/२२५

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से औ मन से,
विगत अनागत आगत विषयों निकालता मैं चेतन से।
सकल क्रिया से विराम पाया निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्वतम्बन।।

३४/२२६

मैंने मोही बन व्रत में यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका विधिवत् प्रतिक्रमण का भाव लिया।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया-रहित निज आतम में,
स्थिर होता स्थिर हो जा तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में।।

३५/२२७

मोह भाव से अनुरंजित हो साम्प्रत कर्म क्रिया करता,
उनका भी मैं आलोचन कर दया भाव निज पै धरता।
चेतन रस से भरा हुआ-सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में।।

३६/२२८

बीत-मोह बन बीत राग बन निग्रह कर मन स्पंदन का,
प्रत्याख्यान करूं मैं अब इस भावी विधि के बन्धन का।
चेतन रस से भरा हुआ सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में।।

३७/२२९

इस विध बहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-में बस निशिदिन रमता मैं,
निर्मोही बन निर्विकार बन केवल धरता समता मैं।।

३८/२३०

मेरे विधि के विष-तरु में जो कटुविष फलदल लटक रहें,
सड़े गिरे वे विना भोग के मन कहता ना निकट रहें।
फलतः निश्चल शैल सचेतन-शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि में समय समय पर उद्‌भवता॥

३९/२३१

अशेष वसुविध विधि के फल को पर्ण उपेक्षित किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी।
अमिट काल को परम्परा मम भजे निरन्तर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार कर ले सहज स्वयं शिव केतन को॥

४०/२३२

विधि-विष द्रुम को विगत काल में विभाव जल से सिंचा था,
पर अब उसके फल ना खा खा निज फल केवल सुख पाता।
सदा सेव्य है सुन्दरतम है मधुर मधुर तर है साता,
इस विध निज सुख क्रिया रहित है जिसके मुनिवर है पाता॥

४१/२३३

विधि से विधि फल से अविरति से विरत व्रती हो संयत हो,
विकृत चेतना पूर्ण मिटाकर संग रहित हो संगत हो।
ज्ञान चेतनामय निज रस से निज को पूरण भर जीवो,
परम प्रशम रस-सरस सुधारस है मुनि झट घट भर पीवो॥

४२/२३४

ज्ञान ज्ञेय से ज्ञेय ज्ञान से तदपि प्रभावित होते हैं,
पर ये निज निज के कर्त्ता पर-के कदापि न होते हैं।
सकल वस्तुएं भिन्न भिन्न हैं ऐसा निश्चय जभी हुआ,
ज्ञान आप में पाप-ताप बिन उज्जवल निश्चल तभी हुआ॥

४३/२३५

पर से न्यारा स्वयं संभारा धारा इस विध रूप निरा,
ग्रहण-त्याग-मय शील शून्य है अमल ज्ञान सुख कूप मिरा*।
आदि मध्य औ' अन्त रहित है जिसकी महिमा द्युतशाली,
शुद्ध ज्ञान-धन नित्य उदित है सहज विभामय सुख प्याली ।।

४४/२३६

निज आतम में निज आतम को जिसने स्थापित किया यमी,
कच्छप सम संकोचित इन्द्रिय पूर्ण रूप से किया दमी।
जो कुछ तजने योग्य रहा था उसको उसने त्याग दिया,
ग्राह्य जिसे झट ग्रहण किया, क्यों तूने पर राग किया?

४५/२३७

स्वयं सुखाकर ज्ञान दिवाकर इस विध निश्चित प्रकट रहा,
सुचिर काल से पूर्ण रूप से-द्रव्यन से प्रथक रहा।
उत्तर दो अब ज्ञान हमारा आहारक फिर हो कैसा?
जिससे तुम हो कहते रहते 'काय ज्ञान का हो' ऐसा !!

११/२५७

ज्ञेयालम्बन जब से तब से-ज्ञान हुआ यों कहे वृथा,
ज्ञेयालम्बन लोलुप बन शठ पर में रमते सहे व्यथा।
भिन्न काल का अभाव निज में मान जान पै गत मानी,
सहज, नित्य निज-निर्मित शुचितम ज्ञान पुंज में रत ज्ञानी ।।

१२/२५८

पर परिणति को निज परिणति लखै पर में पाखण्डी रमता,
निज महिमा का परिचय बिन पशु एकान्ती भवभव भ्रमता।
सबमें निज निज भाव भरे हैं उन सबसे अति दूर हुआ,
प्रकट निजातम को अनुभवता स्याद्वादी नहिं चूर हुआ ।।

---

*मेरा

१३/२५९

विविध विश्व के सकल ज्ञेय का उद्भव अपने में माने,
निर्भय स्वैरी शुद्ध भाव तज खेल-खेलते मन माने।
पर का मुझमें अभाव निश्चित समझ किन्तु यह मुनि ऐसा,
निजारूढ़स्याद्वादी निश्चल लसे शुद्ध दर्पण जैसा॥

१४/२६०

उद्भव व्यय से व्यक्त ज्ञान के विविध अंश को देख, तभी,
क्षणिक तत्व को मान कुधी जन सहते दुःख अतिरेक सभी।
पै स्याद्वादी चितिपन सिंचित सरस सुधारस सु पी रहा,
अडिग अटल बन शुद्ध-बोध धन सुजी रहा, मुनि सुधी रहा॥

१५/२६१

निर्मल निश्चल बोध भरित निज आतम को शठ जान अहा,
उजल उछलती चिति परिणति से भिन्न आत्म पर मान अहा।
नित्य ज्ञान हो भंगुर बनता उसे किन्तु द्युतिमान वही,
चेतन-परिणति बल से ज्ञानी ज्ञान क्षणिकता लखे सही॥

१६/२६२

तत्व ज्ञान से वंचित ऐसे मूढ़ जनों को दर्शाता,
ज्ञान मात्र वह आत्म तत्व है साधु जनों को हर्षाता।
अनेकान्त यह इस विधि होता सतत् सुशोभित अपने में,
स्वयं स्वानुभव में जब आता मिटते सब हैं सपने ये॥

१७/२६३

वस्तु तत्व की सरल व्यवस्था उचित रूप से करता है,
अपने को भी उचित स्थान पर स्थापित खुद ही करता है।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर जिन-शासन पावन प्यारा,
अनेकान्त यह स्वयं सिद्ध है विषय बनाया जग सारा॥

१८/२६४

इस विध अनेक जिन बल आकर होकर आतम भाता है,
सहज ज्ञान-पन को फिर भी नहिं तजता पावन ज्ञाता है।
आत्म द्रव्य पर्यय का न्यारा अक्षय अव्यय केतन है,
क्रम-अक्रम वर्ती पर्यय से शोभित होता चेतन है।।

१९/२६५

वस्तु तत्व ही अनेकान्त मय स्वयं रहा गुरु लिखते हैं,
अनेकान्त के लोचन द्वारा जिसे सन्त जन लखते हैं।
स्याद्वाद की ओर शुद्धि पा बनते मुनिजन वे ज्ञानी,
जिन मत से विपरीत किन्तु ना जाते बन के अभिमानी।।

२०/२६६

किसी तरह कर यत्न सुधी जन बीत मोह बन गत रागी,
केवल निश्चल ज्ञान भाव का आश्रय करते बड़ भागी।
शिव का साधक रत्नत्रय वे फलतः पाकर शिव गहते,
मूढ़ मोहवश विरागता बिन भव भव भ्रमते दुख सहते।।

२१/२६७

स्याद्वाद से पूर्ण कुशलता पा अविचल संयमधारी,
पल पल अविरल अविकल निर्मल निज को ध्यावे अविकारी।
ज्ञानमयी नय क्रियामयी नय इन्हें परस्पर मित्र बना,
पाता मुनिवर वही अकेला शुद्ध चेतना मात्र पना।।

२२/२६८

चेतन रस का पिण्ड चण्ड है सहज भाव से विहस रहा,
विराग मुनि में इस विधि आतम उदित हुआ है विलस रहा।
चिदानन्द से अचल हुआ वह एक रूप ही सदा हुआ,
शुद्ध ज्योति से पूर्ण भरा है प्रभात सुख का सदा हुआ।।

२३/२६९

शुद्ध-भावमय विराग-मम-मन में जब द्युति पन उदित हुआ,
स्याद्वाद से झगर झगर कर स्फुरित हुआ है मुदित हुआ।
अन्य भाव से फिर क्या मतलब भव या शिव पथ में रखते,
स्वीय भाव बस उदित रहे यह यही भावना मुनि रखते।।

२४/२७०

यद्यपि बहुविध बहुबल आलय आतम तमनाशक साता,
नय के माध्यम से लखता हूं खण्ड खण्ड हो नश जाता।
खण्ड निषेधित अतः किए बिन अखण्ड चेतन को ध्याता,
शान्त शान्ततम अचल निराकुल छविमय केवल को पाता।।

२५/२७१

ज्ञान मात्र हो ज्ञेय रूप में यह जो मैं शोभित होता,
किन्तु ज्ञेय का ज्ञान मात्र नहिं तथापि हूं बाधित होता।
ज्ञेय रूप धर ज्ञान विकृतियां सतत् उगलती उजियाली,
परन्तु ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तु मात्र मम है प्यारी।।

२६/२७२

आत्म तत्व मम चित्रित दिखता कभी चित्र बिन लसता है,
चित्राचित्री कभी कभी वह विस्मित सस्मित हंसता है।
तथापि निर्मल बोध-धारि के करे न मन को मोहित है,
चूंकि परस्पर बहुविध बहुगुण मिले आत्म में शोभित हैं।।

२७/२७३

द्रव्य दृष्टि से एक दीखता पर्ययवश वह नैक रहा,
क्षण-क्षण पर्यय मिटे क्षणिक हैं ध्रुव, गुण वश तू देख अहा।
ज्ञान-दृष्टि से विश्व व्याप्त पर स्वीय-देश में खड़ा हुआ,
अद्भुत वैभव सहज आत्म का देखो निज में पड़ा हुआ।।

२८/२७४

बहती जिसमें कषाय-नाली शान्ति सुधा भी झरती है,
भव-पीड़ा भी वहीं प्यार कर मुक्ति-रमा मन हरती है।
तीन लोक भी आलोकित हैं अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुत-तम महिमा आतम की जय शीलों है।।

२९/२७५

सकल विश्व ही युगपत् जिसमें यदपि निरन्तर चमक रहा,
तदपि एक बन जयशाली है सहज तेज से दमक रहा।
निज-रस पूरित रहा अतः वह तत्त्व बोध से सहित रहा,
चेतन का जो चमत्कार है अचल व्यक्त हो स्फुरित रहा।।

३०/२७६

चेतन-मय-शुचि 'अमृतचन्द्र' की सौम्य ज्योति अवभासित है,
अविचल-आतम में आतम से आतम को कर आश्रित है।
बाधा विन वह रही अकेली रही न काली मोह निशा,
फैली परितः विमल धवलिमा उजल उठी है दशों दिशा।।

३१/२७७

स्वपर रूप यह विपर्याय हो प्रथम ऐक्य कर निज तन में,
रागादिक कर आतम उलझे कर्तृ-कर्म के उलझन में।
कर्म कर्म फल चेतन का फिर अनुभव वश नित खिन्न हुआ,
ज्ञान रूप में निरत वही अब तन मन से अति भिन्न हुआ।।

३२/२७८

वस्तु-तत्त्व की यथार्थता का वर्णन जिसने किया सही,
शब्द-समय ने समयसार का स्वयं निरूपण किया यही।
कार्य-रहा नहिं अब कुछ करने 'अमृत चन्द्र' हूं सूरियदा,
लुप्त गुप्त हूं सुसुप्त निज में सुख अनुभवता भूरि सदा।।

।। श्री अमृतचन्द्रसूरये नमः ।।

दोहा

मेटे वाद विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद !
सब वादों को खुश रखे पुनि पुनि कर संवाद ॥

समता भज, तज प्रथम तू पक्षपात परमाद !
स्याद्वाद आधार ले समयसार पढ़ बाद ॥

वसन्ततिलका छन्द

आशीष लाभ तुमसे यदि मैं न पाता,
जाता लिखा नहिं 'निजामृतपान' साता।

दो 'ज्ञान सागर' गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूं तजदूं अविद्या ॥

दोहा

कुन्दकुन्द को नित नमूं हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय ॥

अमृतचन्द्र से अमृत है झरता जग-अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी अमर बना सुख कूप ॥

तरणि 'ज्ञान सागर' गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥

सुफल

मुनि बन मन से जो सुधी करें 'निजामृतपान'
मोक्ष और अविरल बढ़े चढ़े मोक्ष सोपान ॥

मंगल कामना

दोहा

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान।
ध्यान निजामृत का करूं करूं निजी गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समयसार को जान।
गट गट झट पट चाव से करूं 'निजामृतपान' ॥२॥

रम रम शम दम में सदा मत रम पर में भूल।
रख साहस फलतः मिले भवकापल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतम राम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य मैं नियत निरंजन नित्य।
जान मान इस विध तजूं विषय कषाय अनित्य ॥५॥

मृदुता तन मन वचन में धारो वन नवनीत।
तब जप तप सार्थक बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

पापी से मत पाप से घृणा करो अयि ! आर्य।
नर ही वह बस पतित हो पावन कर शुभ कार्य ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मैं हूं नहीं मुझमें कछु नहीं ज्ञान,
त्रुटियां होवें यदि यहां, शोध पढ़ें धीमान् ॥८॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डल गिरि के पास है, नगर दमोह महान,
ससंघ पहुंचा पुनि जहां भवि-जन पुण्य महान ॥९॥

देव-गगन गति गंध की वीर जयन्ती आज।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को निजानन्द के काज ॥१०॥

वीर सं० २५०४ की 'वीर जयन्ती' के दिवस पर यह 'निजामृतपान' दमोह नगर मे सानन्द संपूर्ण हुआ है।

गुणोदय

पद्यानुवाद—आत्मानुशासन

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन से करूं मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु-चरण रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि-मन गुरु भजन में निशि दिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्द-कुन्द को नित नमूं हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धि महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण गण निधि गुणभद्र-गुरु महके अगुरु सुगन्ध।
अर्पित जिनपद में रहें गन्धहीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणा-कर करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

आतम अनुशासनन का पद्यमयी अनुवाद।
करूं, प्रयोजन बस यही मोह मिटे परमाद ॥७॥

गुणोदय

मंगलपूर्वक आत्मानुशासन के कथन की प्रतिज्ञा

सादर उर में बिठा वीर को जिनके विधि सब निलय हुए।
समवशरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण विलय हुए॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना।
भविक जनों को मोक्ष मिले बस करूं प्रयोजन औ' कुछ ना॥१॥

दुख से भयभीत प्राणियों के लिए दुःखापहारी शिक्षा देने की सूचना

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये।
भव भव, भव-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए॥
मन वांछित फल मिले तुम्हें बस यही भावना भाकर मैं।
दुख का हारक सुख का कारक पथ्य कहूं जिन चाकर मैं॥२॥

यदि इस शिक्षा में तत्काल कटुता भी प्रतीत हो तो भी उससे भयभीत न होने की प्रेरणा

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो।
किन्तु अन्त में मधुर-मधुरतम सुख बनता निर्बाध बनो॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मत इससे मन में भय लाना।
रोग मिटाने रोगी चखता जिस विधि कटु औषध नाना॥३॥

संसार से उद्धार कराने वाले उपदेशकों की दुर्लभता

करुणा रस पूरित उर वाले जग हित में नित निरत रहें।
दुर्लभ जग में सुलभ अदय जन वाचाली बस फिरत रहें॥
ढुलमुल-ढुलमुल नभ में डोले बिन जल बादल बहुत बके।
सजल जलद हैं जल वर्षाते कम मिलते मन मुदित भले॥४॥

वक्ता का स्वरूप

जन-मन हारक पर निंदक नहिं विविध प्रश्न भी सहन करें।
उत्तर मुख में रखते प्रतिभा-निधि गुणगण को ग्रहण करें॥
शमी, दमी व्यवहार चतुर हैं शास्त्र ज्ञान के सही धनी।
हित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलते सुधी गणी॥५॥

शिव पथ पथिकों को पथ दर्शित करने रत बोधित भवि को।
दोष रहित श्रुत पूरण धरते धरते शुचि चारित छवि को॥
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुध जन से भी वंदित हैं।
यतिपति गुण ये जिनमें वह 'गुरु' और गुणों से मंडित हैं॥६॥

श्रोता का स्वरूप

मम हित किसमें निहित रहा यों चिंतित दुःखित प्रति श्वासा।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण, बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा॥
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी॥७॥

पाप-पुण्य का फल

हिंसादिक इन पाप कर्म कर, प्राणी पल पल दुख पाता।
लोक मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता॥
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो।
चर्म-राग तज, धर्म भाव में भाग्य मान अनुराग करो॥८॥

सुख के मूल कारणभूत आप्त के आश्रयण की आवश्यकता

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम बसे॥
श्रुति जिन से, जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नहीं।
सही समक्ष शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही॥९॥

सम्यग्दर्शन का स्वरूप व उसके भेदादि

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि धाम बने॥
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिकों को।
तत्त्वों अर्थों का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियों को॥१०॥

सम्यग्दर्शन के दस भेद और उनका स्वरूप

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उद्भव तथा रहा॥
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है।
आवगाढ, परमावगाढ है गाता यह निज-दर्शन है॥११॥

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ में रुचि हो मारग दर्शन है॥
परम पूत तम पुरुष कथा सुन परम दृष्टि जो पाता है।
ग्रन्थ स्रजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है॥१२॥

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञात हो किसी बीज पद सही खुला॥
मोह कर्म के वर उपशम से बीज समुद्भव दृष्टि खिली।
मुनि-व्रतविधि-सूचक सूतर सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली॥१३॥

द्वादशांग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही।
अंग बाह्य बिन सुन तदंश में रुचि हो सार्थक दृष्टि वही॥
मथन अंग का अंग बाह्य का दृष्टि वही 'अवगाढ' रही।
पूर्ण ज्ञान में आगत में रुचि दृष्टि 'परम-अवगाढ' वही॥१४॥

सम्यग्दर्शन के बिना शमादिकों की निरर्थकता

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम सम दर्शन बिन सब सपना॥
समदर्शन से मंडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना।
मंजु मंजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना॥१५॥

हिताहित प्राप्ति-परिहार से अनभिज्ञ शिष्य के लिए बालक के समान सुकुमार क्रिया करने की सूचना

किसमें मम, हित अहित निहित है तुझको यह ना विदित रहा।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह-रोग से व्यथित रहा॥
क्लेश विना शिशु को जननी ज्यों शिवपथ परिचित करा रहे।
कोमल समकित संस्कारों से हम संस्कारित करा रहे॥१६॥

उक्त सुकुमार क्रिया का स्पष्टीकरण

विषम विषयमय अशन उड़ाया तुमने कितना पता नहीं।
मोह महाज्वर तभी चढ़ा है तृष्णा तुमको सता रही॥
अणुव्रत लेना निःशंकित तुमको समयोचित सार यही।
प्रायः पाचक पथ्य पेय से प्रारंभिक उपचार सही॥१७॥

सुख व दुख दोनों ही अवस्थाओं में धर्म की आवश्यकता

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे॥१८॥

इन्द्रिय सुख के लिए भी धर्म का संरक्षण आवश्यक

मन वांछित इन्द्रिय विषयों के भांति के सुख सारे।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओं के रस फल प्यारे॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओं का किसी तरह रक्षण करना।
प्राप्त फलों को संचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना॥१९॥

धर्म सुख का विघातक है, इस शंका का निराकरण

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है॥
मन में भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कहीं।
किन्तु स्वप्न में भी नहिं होना धर्म विमुख धर ध्यान सही॥२०॥

किसान के समान धर्म रूपी बीज का संरक्षण करते हुए ही भोगों का अनुभव करना चाहिए

धर्म पालते फलतः मिलता अतुल विभव भरपूर सही।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नहीं॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है।
किन्तु पृथक् रख बीज सुरक्षित पुनः शेष फल खाता है॥२१॥

कल्पवृक्ष आदि की अपेक्षा धर्म की उत्कृष्टता

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है।
चिंतामणि से मन में चिंतित मिलता पर मन खिलता है॥
किन्तु कल्पना चिंता के बिन अनुपम अव्यय फल देता।
सत्य धर्म है क्यों ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता॥२२॥

पुण्य-पाप के कारण निज परिणाम ही हैं

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा॥
अतः पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का संचय अब अनिवार्य रहा॥२३॥

धर्म का विघात करके विषय सुख का भोगना वृक्ष की जड़ों को उखाड़कर उसके फलग्रहण के समान है

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित हैं गिरे हुए।
विषय सुखों का सेवन करते मोह भाव से घिरे हुए॥
सरस फलों से लदा हुआ है मूल सहित द्रुम छेद रहे।
फल खाने में निरत हुए हैं नहीं अनागत वेद रहें॥२४॥

मानसिक, वाचनिक और कायिक प्रवृत्ति में वह धर्म कृत, कारित और अनुमोदना से सरलतापूर्वक संग्राह्य है

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा।
मन से वच से औ तन से भी पूर्ण शक्य जो कार्य रहा॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नहीं हो सकता।
उज्ज्वल जल है पीलो धोलो पल भर में मल धो सकता॥२५॥

धर्म के बिना पिता-पुत्र भी एक दूसरे का घात करते देखे जाते हैं

जब तक जिसके जीवन में वह जीवित जागृत धर्म रहा।
मारक को भी नहीं मारते तब तक ना अघ कर्म रहा॥
चूंकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट-पिट आपस में मिटते।
अतः धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख हैं मिलते॥२६॥

पाप का कारण सुखानुभव नहीं, किन्तु धर्मविघातक आरम्भ है

पाप बन्ध वह हो नहिं सकता सुख के सेवन करने से।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिंसादिक अघ करने से॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहिं वह आता।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन खा दुख पाता॥२७॥

मृगया (शिकार) आदि को सुखप्रद न मानकर धर्माचरण को ही सुखप्रद समझना चाहिए

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दुःख हैं पर भव में भी दुखकारी।
पाप ताप हैं किन्तु उन्हें तुम मान रहे अति सुखकारी॥
इन्द्रिय सुख में अनासक्त ज्यों बुधजन जिसको अपनाते।
उभय लोक में सुखद धर्म को क्यों न मानते अपनाते॥२८॥

मृगया में कठोरता का दिग्दर्शन

दोष रहित हैं, त्राण रहित हैं रहती हैं भयभीत यहीं।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही॥
दंत पंक्ति में मिले मृदुल तृण भोजन करतीं मृग व्यथा।
व्याध उन्हें भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा॥२९॥

पिशुनता (परनिन्दा) व दीनता आदि उभय लोकों में अहितकारक हैं

पर निन्दन तज दैन्य दम्भ से सभी सर्वथा दूर रहो।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो॥
चूंकि धर्म-धन यश-धन धी धन इष्ट तुम्हें हैं सुखकर हैं।
इह भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है॥३०॥

पुण्य निरुपद्रव वैभव का कारण है

पुण्य करो नित पुण्य पुरुष को कुछ नहिं करती आपद है।
आपद ही वह बन जाती है सुखद संपदा आस्पद है॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यदपि यहां।
सकल दलों सह कमल दलों को खुला खिलाता तदपि अहा॥३१॥

पुरुषार्थ की निरर्थकता में इन्द्र का उदाहरण

सुर गुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था।
स्वर्ण दुर्ग था वज्र शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था॥
वली इन्द्र भी इस विध रण में रावण दानव से हरा।
अतः शरण बस दैव, वृथा है पौरुष को बहु धिक्कारा॥३२॥

निःस्वार्थ पुण्यकार्यों के कर्त्ता कितने ही आज विद्यमान हैं

धरणीपति सम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए।
जलनिधि सम धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित में नित निरत हुए।
सन्त आज भी लसे पुराने मुनिसम कतिपय विरत हुए॥३३॥

क्षुद्र इन्द्रिय सुख के पीछे पिता-पुत्र भी एक दूसरे को धोखा देते हैं, किन्तु वे अनिवार्य मृत्यु को नहीं देखते

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मद्य पी भ्रमित हुए।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए॥
अहो! मूढ जग जनन मरण के दीर्घ दाढ़ में पड़ा हुवा।
नहिं लखता, रत, तन हरने में निकट काल को खड़ा हुवा॥३४॥

विषयान्धता की सदोषता

मोही जड़ जन अन्ध बने हैं विषयों में जो झूल रहे।
महा अन्ध हैं अन्धों से भी सत्यपंथ को भूल रहे॥
नेत्रों से जो अन्ध बने हैं मात्र रूप को नहिं लखते।
किन्तु मूढ़ विषयान्ध बने कुछ भी न लखे सुध नहिं रखते॥३५॥

प्राणी की इच्छापूर्ति असम्भव है

प्रति प्राणी में आशारूपी गर्त पड़ा है महा बड़ा।
जिसमें सब संसार समाकर लगता अणुसम रहा पड़ा॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बता सही।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही॥३६॥

विवेकी जन इष्ट सामग्री का कारण पुण्य को मानकर परभव के सुधारने का प्रयत्न करते हैं

उचित आयु धन तन सुख मिलते पास पुण्यमय रतन रहा।
यदि वह नहिं तो धनादि भी नहिं भले करो अब यतन महा॥
यही सोच इस भव सुख पाने रुचि लेते ये आर्य नहीं।
परभव सुख के निशिदिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही॥३७॥

विषयाधीन प्राणी की विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है

कटु कटुतम विषसम विषयों में कौन स्वाद तू लुभित सुधी।
जिसे ढूंढने निजि अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा॥३८॥

प्राणी की भोगशक्ति के परिमित होने से ही यह विश्व बचा हुआ है, अन्यथा तृष्णा तो उसकी अपरिमित है

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा॥
चूंकि शक्ति नहिं तुझमें उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे॥३९॥

ग्रहण करने के पूर्व ही परिग्रह का परित्याग श्रेयस्कर है

किसी तरह भी विश्वसारमय सार्वभौम पद प्राप्त किया।
किन्तु अन्त में तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहिं तो तब उपहास हुवा।
पतित धूल में मोदक ले ऋषि का जिस विध यश नाश हुवा॥४०॥

गृहस्थाश्रम हितकर नहीं है

सुबुध-चरित को भी यह करता पूर्ण पापमय कभी कभी।
कभी कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी कभी।।
अंध रज्जू संपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा।।४१।।

यथार्थ सुख तृष्णा का निग्रह करने पर ही प्राप्त होता है

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया।।
विष में जीवन तेल रेत में ढूंढ़ रहा दिन रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे क्या ज्ञात रहा।।४२।।

तृष्णायुक्त प्राणी का सुख सुखाभास ही है

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग संपदा चाह रहा।।
तपन ताप से तपा हुवा नर शांति खोजता दुखी बड़ा।
बांस जल रही उसकी छाया में जाकर बस वहीं खड़ा।।४३।।

दैव की प्रबलता का उदाहरण

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला।।
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमें जहां मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा।।४४।।

न्यायपूर्वक धन का संचय संभव नहीं है

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ़ नहिं सकता साधु सन्त यों बता रहे।।
पूर्ण सत्य है नदियां बहतीं जग में जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरीं वे विमल सलिल से कभी नहीं।।४५।।

यथार्थ धर्म, सुख व ज्ञान का स्वरूप

अधर्म जिसमें पलता नहिं है धर्म वहीं पर पलता है।
गन्ध दुःख की आती नहिं है उसमें ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वहीं ज्ञान है जहां नहीं अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुं गतियों का जब होता अवसान रहा॥४६॥

धन संचय की कष्ट साध्यता

धन-कन कंचन संचय करने असि मषि कृषि में बन श्रमधी।
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लंपटी बन भ्रमधी॥
शम यम दम नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही।
जनन मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं॥४७॥

अभ्यन्तर शान्ति का कारण राग-द्वेष का परित्याग ही है

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट यह है इष्ट रहा।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा॥
निर्दय यम के ज्वालामय मुख में जब तक नहिं जल मरता।
तब तक पीले निजी शांतिमय अविकल अविरल जल झरता॥४८॥

यदि प्राणी आत्मशक्ति का अनुभव करे तो शीघ्र ही उस तृष्णा-नदी के पार हो सकता है

परवश आशा सरिता में तुम बह-बह कर अति दूर गये।
इसे तैरते सक्षम तुम ही क्या न पता क्या भूल गये?॥
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैर कर तीर गहो।
नहिं तो पातक मरण मगर मुख, में पड़ भव दधि पीर सहो॥४९॥

पाप शान्ति के बिना अभ्यन्तर शान्ति असंभव है

रस ले लेकर नीरस कह कर विषयी जन सब विषय तजे।
उन्हें मूढ़ तुम अपूर्व समझे करें उन्हीं की विनय भजे॥
आशा रूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा।
मिटे न तब तक विषय कोट! रे शांति नहीं ना निजी मजा॥५०॥

कामी पुरुष क्या क्या निन्द्य कार्य करता है

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नाहिं पाते।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर-वाते तातें दुख पाते॥
साधु जनों ने जिनको त्यागा चाह उन्हीं की नित करते।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहिं करते॥५१॥

विषय भोगों की अस्थिरता

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता।
ध्रव कुछ नहिं जग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता॥
भ्रात ! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो आंख खोलकर सही सही।
बार बार हो भ्रमित रम रहा विषयों में ही वहीं-वहीं॥५२॥

स्त्रियों के वशीभूत होने पर जो कष्ट होता है वह स्मरणीय है

नरकों में दुख सहन किये हैं करनी की थी पाप भरी।
दूर रहें वे बीत गये हैं जिनकी स्मृति भी ताप करी॥
मदन बाण सम स्त्रीजन कटाक्ष से निर्धन तू जला मरा।
हिम से मृदुतरु जलता जिस विध उसे याद कर भला जरा॥५३॥

संसार प्राणी की स्थिति

आत्म प्रवंचक चरित रहित है आधि व्याधि से सहित रहा।
सप्त धातुमय तन धारक है क्रोधी तन से उदित अहा॥
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा।
हे ! जन्मी क्यों ? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा॥५४॥

तृष्णा युक्त प्राणी की तृष्णा को शान्त नहीं होती, केवल वह संक्लेश को ही प्राप्त होता है

तरुण अरुण की खरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत संतप्त तथा॥
कुधी विषय सुख मिलते नहिं तब अघकर उसविध दुख पाता।
नीर निकट-तम कीच बीच फंस बैल-क्षीण बल दुख पाता॥५५॥

इच्छानुसार विषयों की प्राप्ति में तृष्णा उत्तरोत्तर बढ़ती ही है

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती।
इन्धन जब इसको ना मिलता, जलती ना झट वुझ जाती॥
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती॥५६॥

मोहकृत निद्रा के वशीभूत होकर प्राणी यम के भयानक बाजों के शब्द को भी नहीं सुनता है

दुखमय ज्वाला लपटों से क्या कभी काय तव जला नहीं।
मधु मक्खीसम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं॥
गर्जन करते काल वाद्य के, भयद शब्द क्या सुना नहीं।
क्यों न तजी फिर निंद्य मोह की नींद, भाव यह गुना नहीं॥५७॥

उक्त मोहनिद्रा के वश प्राणी संसार में रहता हुआ क्या क्या सहता है

तन में घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा।
पुनि पुनि पल पल विधि बंधन में पड़ना भी अविराम रहा॥
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा।
फिर भी जन्मी! भव में रमता, विस्मय का यह धाम रहा॥५८॥

शरीर बन्दीगृह के समान है

स्थूल हाड़मय काष्ट रचित है सिरा नसों से बंधा हुवा।
विधि-रपु रक्षित रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा॥
लगा जहां पर आयु रूप गुरु-सांकल है तव तन घर है।
मूढ़ उसे तू जेल समझ मत वृथा राग कर अधकर है॥५९॥

गृह, बन्धु, स्त्री, पुत्र और धन ये सब विपत्ति के कारण हैं

विधि बंधन के मूल बंधुजन शरण काय नहिं अशरण है।
आपद गृह के महाद्वार हैं चिर परिचित प्रमदा जन हैं॥
स्वार्थ परायण सुत, रिपु हैं, यदि तुमको है शिव चाह रही।
तजो इन्हें बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही॥६०॥

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इंधन सम क्या उस धन से ? ।
पाप जनक संबंध रहा है जिनका क्या उन परिजन से ? ।।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से ? ।
भज समता देही ! सुख-वांछक प्रमाद तज तू तन मन से ? ।।६१।।

लक्ष्मी की अस्थिरता

सेनापति औ बली जनों के सर्वप्रथम आश्रित रहती।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक-दल से फिर आवृत रहती।।
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती।।६२।।

शरीर जन्म-मरण से सम्बद्ध है

जनन मरण से व्याप्य रहा है जड़ मय तेरा यह तन है।
खेद, खेद का अनुभव करता तन में स्थित हो निशिदिन है।।
अग्नि लगी एरण्ड काष्ठ में दोनों मुख जिसके जलते।
जैसे उसमें स्थित कीड़े हा ! दुख पाते मरते जलते।।६३।।

जीव इन्द्रियों का दास न बनकर जब उन्हें ही दास बना लेता है तभी सुखी होता है

दुराचार कर अघ करता क्यों दुखित हुवा सम नौकर के।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने का सुध खोकर के।।
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने।
अकलुष निज लख शिव बन सुख पाल चरित, विधि नाश घने।।६४।।

धनी व निर्धन कोई भी सुखी नहीं है

धन का अभिलाषी नहिं धन पा, दुखी रहें निर्धनी सदा।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हो दुखी रहें नित धनी मुधा।।
धनिक दुखी है दुखी निर्धनी खेद यहां सब देख दुखी।
अंतरंग बहिरंग संग तज निसंग मुनि बस एक सुखी।।६५।।

सुखी तपस्वी ही हैं

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो परके आश्रित है।
यथार्थ सुख तो शाश्वत शुचिमय सुख यह निज के आश्रित है।।
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शंकित इस विध है।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है।।६६।।

तपस्वि प्रशंसा

निजाधीन हो विवरण करते बिना याचना अशन करें।
बुध जन संगति करते श्रुत का मनन करें मन शमन करें।।
बाह्य-द्रव्य में मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना, विफल रहा।।६७।।

विरति विषय से कर श्रुत चिंतन उर से करुणा अति बहती।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने में नित रत रहती।।
अशन अन्त में तज तन तजना पर आगम बल पर चलना।
महामना उन मुनियों का यह लघु तप विधि का प्रति फल ना ! ।।६८।।

शरीर संरक्षण असम्भव है

कोटि-कोटि खुद उपाय कर लो तन रक्षण नहिं संभव है।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असंभव है।।
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है।
तन रक्षण का हट छोड़ो तुम समझो यह 'तन लक्षण' है।।६९।।

इन नश्वर आयु एवं शरीरादिकों के द्वारा अविनश्वर पद प्राप्त किया जा सकता है

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरंग जीवन यह प्यारे।।
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिवपद है।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वयं आ गई संपद है।।७०।।

दुर्बुद्धि प्राणी नश्वर आयु व शरीर के आश्रित रहकर भी भ्रान्ति वश अपने को अविनश्वर मानता है

उच्छ्वासों का निःश्वासों का करता है अभ्यास सदा।
जीव चाहता तन से निकलूं बाहर, शिव में वास कदा॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढ़ेगी कहते हैं।
अजर अमर आतम बनता है फलतः जड़ जन बहते हैं॥७१॥

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे वस पल-पल है।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है॥
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा।
किन्तु नाव-थित नर सम निज को भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा॥७२॥

दुःख रूप उच्छ्वास ही जीवन और उसका विनाश ही मरण है

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा॥
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी॥७३॥

जीव जन्म व मरण के मध्य में कितने काल रह सकता है

जनन ताड़ के पादप से तो प्राणी फल दल पतित हुए।
अधोमुखी हैं निराधार हैं पथ में हैं वे पथिक हुए॥
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहिं आये।
कब तक फिर वे अन्तराल में अधर गगन में रह पाये॥७४॥

ब्रह्मदेव के द्वारा मनुष्यों के रक्षण का पूरा प्रबन्ध कर देने पर भी उनकी रक्षा सम्भव नहीं

नीचे नारक असुरों ऊपर देवों को बस! बसा दिये।
मध्य मानवों को रख अमितों द्वीप सागरों घिरा दिये॥
तीन वातवलयों से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना।
पर नर पति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना॥७५॥

विधि से बलवान् कोई नहीं है

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी।
पूर्ण निगलता खेद! भानु को भासुरतम जो परतापी॥
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता॥७६॥

जब विधि ही प्राणी को उत्पन्न करके स्वयं उसे नष्ट करता है तब उसकी रक्षा अन्य कौन कर सकता है

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला पिला।
सकल जगत् को संमोहित कर सही पंथ से भुला भुला॥
सघन भयानक भव कानन में हन्ता बन कर विचर रहा।
उसे मारता कौन बली वह कहां रहा है किधर रहा॥७७॥

यमराज का स्थान व काल आदि नियत नहीं है

आता है कब किस विध आता काल कहां से आता है।
महादुष्ट है काल विषय में कुछ भी कहा न जाता है॥
वह तो निश्चित आता ही पै तुम क्यों बैठे मन माने।
विज्ञ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने॥७८॥

जीवों को मृत्यु से रहित स्थानादि देखकर वहां ही निश्चिन्ततापूर्वक रहना चाहिए

किसी तरह संबंध नहीं हो दुष्ट काल से बस जिसका।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका॥
देश काल विधि हेतु वही इक जहां मोह का नाम नहीं।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही॥७९॥

स्त्री शरीर प्रीति के योग्य नहीं है

बार बार उपकार किया पर, बार बार अपकार मिला।
इस विधि दारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला।
किस विध इसमें मुग्ध हुवा तू जिसे कहे जड़ सुख प्याला॥८०॥

मनुष्य पर्याय काने गन्ने के समान है

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चूल रहा।
तथा बहुत से रोगों से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है।
परभव सुख का बीज बना बस मानव जीवन अघहर है॥८१॥

शरीर में स्थिति बहुत काल तक सम्भव नहीं है

निशि में करता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता।
जागृत हो जीवन साधन में दिन भर विलीन हो पाता॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा।
किन्तु काय में कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा॥८२॥

बन्धुजनों से आत्महितकर कार्य सम्भव नहीं है

अरे ! हितैषी इस जीवन में बन्धु जनों से क्या पाया।
सत्य-सत्य बस हमें बता दे क्या ! हित अनुभव कर पाया ?॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कंचन तन को।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित धर तव तन को॥८३॥

राग रंगमय भववर्धक है विवाह आदिक कार्य रहें।
उनको करने में ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहें॥
अतः वस्तुतः परम शत्रु है परिजन इस विधि जान अरे !।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरें॥८४॥

धन रूप इंधन से तृष्णा रूपी आग भड़कती ही है, किन्तु अज्ञानी उसे उससे शान्त मानता है

जिनके जीवन में वह जलता आशारूपी अनल महा।
जिसमें डाले धन इंधन का ढेर ढेर जड़ विकल अहा॥
प्रतिफल में वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पै बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती॥८५॥

वृद्धावस्था में धवल बालों के मिष से मानो उसकी बुद्धि की निर्मलता ही निकलती है

धवल धवल तम बालों से तव मस्तक शशि सम धवलित है।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकल मम मत है॥
जरा दशा में जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता।
पर भव हित का अतः स्मरण भी किस विध यह मन कर सकता॥८६॥

भयानक संसार रूप समुद्र में पड़कर मोह रूप मगर-मत्स्यादि से संरक्षण सम्भव नहीं है

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय भव सुख खारा उदक रहा।
बहुविध मानस दुख वड़वानल जिसके भीतर धधक रहा॥
जनन जरा मृति तरंग उठती मोह मगर मुख खोले हैं।
भव दधि में गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले हैं॥८७॥

घोर तपश्चरण में प्रवृत्त होने पर जब शरीर को हरिणियां स्थल-कमलिनी समझने लगें तब ही अपने को धन्य समझना चाहिए

अखिल सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध वनी में मृगी लखे॥८८॥

बाल्यादि तीनों ही अवस्थाओं में धर्म की असंभावना व कर्म की क्रूरता

निर्बल तन मन बालक जब थे नहीं हिताहित विदित हुये।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन में निशिदिन भ्रमित हुए॥
प्रौढ़ हुए धन तृषा बढ़ी फिर कृषि आदिक कर विकल बने।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने॥८९॥

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं।
धन संचय करता तब विधि ने किया तुझे क्या दुखित नहीं॥
अन्त समय तो दांत तोड़कर इसने तव उपहास किया।
फिर भी तू दुर्मति विधिवश हो विधि पर ही विश्वास किया॥९०॥

घृणित वृद्धावस्था में भी प्राणी निश्चिन्त रहकर आत्महित का विचार नहीं करता

घृणित दशा तव देख सके ना तभी नेत्र तव अन्ध हुए।
तव निंदा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये॥
निकट काल को लख भय वश तव पूर्ण कांपता बदन तथा।
फिर भी रहता अकंप जर्जर तन में जलता भवन यथा॥६१॥

विषयी प्राणी 'अति परिचित में तिरस्कार व नवीन में अनुराग हुआ करता है' इस लोकोक्ति को भी असत्य प्रमाणित करना चाहता है

परिचय जिनका अधिक हुवा हो वहीं अनादर तनता है।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथाऽऽदर बनता है॥
दोष कोष में निरत हुआ क्यों गुण-गण से अति विरत हुवा।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करता यह ना उचित हुवा॥६२॥

व्यसनी जन भ्रमर के समान अविवेकी होते हैं

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा।
जल में रहकर जला न छूता कठोर कर्कश सहज रहा॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फस मर जाता।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता॥६३॥

बुद्धि को पा करके प्रमाद करना योग्य नहीं है

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्बल स्वपर बोध का हेतु रही।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भव दधि में शुभ सेतु सही॥
इस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मति वाले हैं॥६४॥

धनी व निर्धन अपने कर्मानुसार होते हैं, यह जानकर भी जो धनिकों की सेवा करते हैं उन पर खेद प्रकाशन

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं॥
किन्तु खेद है वीर धीर और बुध जन तक भी किन्नर हैं।
इन्हीं सुराधिप भूप जनों के जिन पर हंसते शंकर हैं॥६५॥

कृष्णराज के भाण्डागार के समान धर्म का स्वरूप सबको गम्य नहीं है

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें॥
यह पथ शम मय जिस पर चलना विषयी का वह कार्य नहीं।
धर्म कथ्य नहिं महाजनों को जिसे लखे जिन आर्य सही॥९६॥

परोपकारी यतिजन सदुपदेशों द्वारा भव्य जीवों को शरीरादि से विरक्त किया करते हैं

अशुचि धाम तन दुखद रहा है इसमें चिर से निवास रहा।
निरोह इससे हुआ नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा॥
घटे राग तव, सदुपदेश में अतः निरत नित यनि जन ये।
महाजनों की परहित की रति देख जरा, तज रति मन ऐ!॥९७॥

'इस विध' 'उस विध' तन है इस विध कहने से कुछ अर्थ नहीं।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन संपद है।
भव भ्रमितों का यह जड़ तन सब विपदाओं का आस्पद है॥९८॥

गर्भावस्था में स्थित प्राणी की शोचनीय अवस्था

मल घर मां का उदर जहां चिर क्षुधित तृषित मुख खोल पड़ा।
पड़ा अन्नमल मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सड़ा॥
निश्चल था तव कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा।
चूंकि जनन का मरण जनक है यही मुझे परतीत हुवा॥९९॥

आत्मघातक काया को करने वाले संसारी मिथ्यादृष्टि जीवों को जो सुख प्राप्त होता है वह अन्धकवर्तकीय न्याय से प्राप्त होता है

अजा कृपाणक समान तुमने चिर से अब तक कार्य किया।
नहीं हिताहित हुवा विदित हे आर्य दुरित अनिवार्य किया॥
अन्धक वर्तक न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा॥१००॥

कामकृत दुरवस्था

हा ! आकस्मिक, वनितादिक की काम कामना करवाता।
निज को पंडित माने उनके पंडितपन को भरमाता।।
फिर भी पंडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय।
सुतप अनल से क्रूर काम को नहीं जलाते बन निर्दय।।१०१।।

तीन प्रकार के लक्ष्मीत्यागियों में तरतमता

समझ विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना दिये धन तज देता।।
किन्तु प्रथम ही दुखद जान धन नहिं लेता वह बड़भागी।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी।।१०२।।

विरक्ति से संपत्ति के परित्याग में आश्चर्य नहीं है, इसके लिये दृष्टान्त

विलासतायें प्राप्त संपदा संत साधु ये यदि तजते।
विस्मय क्या है इस घटना में विरागता को जब भजते।।
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा मनो, नर यदि करता।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहि करता।।१०३।।

लक्ष्मी के परित्याग में जहां अज्ञानी को शोक और पुरुषार्थी को विशिष्ट गर्व होता है वहां तत्त्वज्ञ के वे दोनों ही नहीं होते

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजता रोता तब जड़ मति-वाला।
तथा संपदा तजता यद्यपि मद करता हिम्मत-वाला।।
ना मद करता ना रोता है किन्तु संपदा तजता है।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है।।१०४।।

विवेकी जन दुष्ट संगति के समान शरीर के परित्याग में खेद का अनुभव नहीं करते

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा।।
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी।
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मौन सुधी।।१०५।।

मिथ्याज्ञान एवं रागादि जनित प्रवृत्ति तथा तद्विपरीत प्रवृत्ति के फल का दिग्दर्शन

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा।
बार-बार तन धार धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा॥
राग हटाकर विराग बन कर एक बार यदि निज ध्याता।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चिय बनता शिव धाता॥१०६॥

दया-दम आदि के मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा

जीव दया मय इन्द्रिय दम मय संग त्यागमय पथ चलना।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना॥
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है।
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है॥१०७॥

सोदाहरण विवेकपूर्वक किये गये परित्याग का फल

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है।
रही 'कुटी परवेश क्रिया' ज्यों विशुद्ध तन को करती है॥१०८॥

कौमार ब्रह्मचारी के नमस्कार

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते॥
मार मार कौमार्य काल में बाल ब्रह्मचारी प्यारे।
चकित हुए हम इस घटना से उन चरणों को उर धारें॥१०९॥

योगिगम्य परमात्मा के रहस्य का निरूपण

सदा अकिंचन मैं चेतन हूं इस विध चिंतन करना है।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है।
परमातम का गूढ़रूप यह प्राप्य! और सब सपना है॥११०॥

तप व मोक्ष की प्राप्ति मनुष्य पर्याय में ही सम्भव है

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं।
दुर्लभ तम है अशुचि धाम है जिसकी दुखमय गात रही।।
इस गति में ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है।
अतः करे तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है।।१११।।

समाधि की सुलभता

ध्यान समय में जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बने बुध सम्मति है।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र क्षति यदि है तो विधि क्षति है।।
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करें कष्ट ना तिल भर भी।।११२।।

तप को छोड़कर दूसरा कोई मनोरथ का साधक नहीं है

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता?।
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता?।।
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को?।
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को?।।११३।।

मनुष्य ताप के संहारक तप में क्यों नहीं रमता है

यहीं सहज कोपादिक पर भी पाता तापस विजय अहा!।
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा!।।
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र बस वरण करें।
ताप पाप हर तप कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करें।।११४।।

तपश्चरणपूर्वक शरीर को छोड़ने वाले सन्यासी की प्रशंसा

अपक्व फल से लगा फूल ज्यों तथा समय पर गलता है।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल से लिपटा शुभ फल फलता है।।
दूध सुरक्षित रख जल सूखे समाधि अगनी में जिसकी।
आयु सूखती वृक्ष रक्षित कर धन्य! वही जय हो उसकी।।११५।।

वैराग्य के कारण भूत ज्ञान की प्रशंसा

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं॥
जीवन भर चिर तारस बनकर खरतर तपते अचल महा।
भ्रात ज्ञात हो निश्चिय ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा॥११६॥

आत्म ज्ञान वह चूंकि हुवा हो तन का परिचय स्पष्ट रहा।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा॥
तन का पालन करने में बस तदपि प्रयोजन एक रहा।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा॥११७॥

कष्ट सहन में आदिनाथ जिनेन्द्र का उदाहरण

जीरण तृण सम सकल संपदा तजी वृषभ ने तपधारा।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा॥
बहुत दिवस तक मिलो नहीं विधि भिक्षार्थी बन भ्रमण किया।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिनने परिषह सहन किया॥११८॥

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहां।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहां॥११६॥

संयमी के लिए दीपक का उदाहरण

प्रथम संयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है॥
तदुपरान्त वह सुनप ध्यान से और सुशोभित हो जाता।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ में रवि भाता॥१२०॥

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर धी-निधि यमी दमी।
दीप बने हैं उन्हें नमूं मम-अघ-तम की हो कमी कमी॥
समीचीन आलोक धाम से करा स्वपर को उजल रहें।
कर्म रूप अलि काला कज्जल फलतः पल-पल उगल रहें॥१२१॥

आगम ज्ञान से जीव अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत होता हुआ शुद्ध हो जाता है, इसके लिए सूर्य का उदाहरण

सही सही आगम का भवि जब चिंतन मंथन करता है।
अशुभ असंयम तज शुभ संयम प्रथम यथाविधि धरता है॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म मल धुलता है।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है॥१२२॥

तप व श्रुत में अनुराग रखता हुआ ज्ञानी जीव कैसे मुक्त हो सकता है, इसका उत्तर

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति में अनुराग हुवा।
भविक जनों का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा॥
प्रभात में जब बाल भानु की कोमल हल्की सी लाली।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग में रमन करो।
रवरव नारक निगोद आदिक गतियों में गिर भ्रमण करो॥
संध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके॥१२४॥

मुक्ति पथिक की सामग्री

चरित पालकी पड़ाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक हैं।
तप संबल है सहचर लज्जा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है॥
सरल पंथ शम जल से सिंचित दया भाव ही छांव रही।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुंचाती शिव गांव सही॥१२५॥

इस मुक्ति यात्रा में बाधक समझकर स्त्री विषयक दोषों का प्रदर्शन

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी रही दृष्टि विष दुरित मही।
जिसके पल भर ही लखने से धू-धू जलता जगत सभी॥
विलोम उनके तुम हो जिससे क्रुद्ध भटकती विवश सभी।
स्त्री के मिष विष वे उनके वश हो न वशी बस निमिष कभी॥१२६॥

कभी क्रुद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं।
लो औषध भी बहु मिलती झट विष हरती है सुधामयी॥
किन्तु क्रुद्ध या प्रसन्न रह भी 'दिखी देख' सबको मारे।
जिस पर औषधि नहिं स्त्री-नागिन से योगी भी भय धारे॥१२७॥

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-बगिया में खिलती है॥
इसे सजा गुण गण से इसमें रम जाओ पर मत बोलो।
अन्य स्त्रियों से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो॥१२८॥

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही।
तरल लहर सुख से स्त्री सरवर वचन सलिल से विहंस रही॥
बालक सम हा! अज्ञ तृषित ही जिसके तट पर बस जाते।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नहीं निकलते फंस जाते॥१२९॥

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त, किया है पूर्ण रूप से धरातला॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा! मरण जहां।
मदन व्याधपति से पीड़ित जन-मृग ढूंढ़त सुख शरण यहां॥१३०॥

तपस्या से घृणित अवस्था को प्राप्त हुए शरीर के धारक साधु को स्त्री विषयक अनुराग के छोड़ने की प्रेरणा

हे! निर्लज्जित सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है।
बना घृणा का भय का आस्पद ज्ञात नहीं क्या जड़धन है॥
तव तन को लख महिला डरती चूंकि सहज कातर रहती।
क्या न डराता उन्हें वृथा तव रति उनमें क्यों कर रहती॥१३१॥

स्त्री के जघनरन्ध्र की घृणित अवस्था को दिखलाकर उसकी ओर आकृष्ट होने वाले तपस्वियों की निन्दा

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं।
रोमावलिमय कुपथ बहुत हैं भ्रमित करें पथ दिखे नहीं॥
दुखद त्रिवलियां सरितायें हैं जिसे घिरी, नहिं पार कहीं।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ़! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं?॥१३२॥

मदन शस्त्र का नाड़ी व्रण है जहां पटकता मल कामी।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई है वह बांबी॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शैल का ढका गर्त है बुध गाते।
रम्य-दान्त-वाली स्त्री जन का योनिथान तू तज तातें॥१३३॥

कृत्रिम गड्ढे में जिस विध गज! तप धारक भी गिरते हैं।
स्त्रीजन के उस योनिथान में विषयों से जब घिरते हैं॥
प्रथम जन्म थल अतः मात वह रागथान! पर जड़ कहते।
उन दुष्टों के दुष्ट वचन से ठगा जगत है हम कहते॥१३४॥

महादेव का उदाहरण देकर स्त्री की विष से भी भयानकता का प्रदर्शन

कराल काला काल कूट वह महादेव के गला पड़ा।
पर उस विषधर का विष उस पर नहीं चढ़ा क्या भला चढ़ा॥
तथापि वह तो स्त्री संगति से अति जलता दिन रात रहे।
निश्चित हो बस विषम विषमतम विष हैं स्त्री जन, ज्ञात रहे॥१३५॥

चन्द्र आदि की समानता को धारण करने वाले स्त्री शरीर की अपेक्षा तो उन चन्द्र आदि से ही अनुराग करना अच्छा है

सकल दोष के कोष यद्यपि स्त्री-काया को परिणति होती।
शशि आदिक समसुंदर दिखती जिससे यदि तव रति होती॥
शुचितर शुभतम पदार्थ भर में करो भली फिर प्रीति यहां।
किन्तु काम रत मदान्ध जन में कहां बोध शुभ रीति कहां॥१३६॥

नपुंसक मन पुरुष को कैसे जीतता है

यदा प्रिय को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी।
किन्तु प्रिया को विषयी-इंद्रिय अनुभवती तब बने सुखी॥
मात्र शब्द से नहीं नपुंसक रहा अर्थ से भी मन ओ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो॥१३७॥

राज्य की अपेक्षा तप विशेष पूज्य है

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है पूज्य ज्ञान-युत सुतप महा।
राज्य त्याग तप करे महा लघु करे राज्य, तज सुतप अहा॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है इस विध बुधजन समझ सभी।
पाप भीत वे आर्य करें वस भव भय हर तप सहज अभी॥१३८॥

पुष्पों को लक्ष्य करके तपोगुण से भ्रष्ट हुए साधुओं की निन्दा

पूर्ण खिले हों पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक हैं।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक हैं॥
छूते पैरों से तक पुनि, ना गंध फूल से नहिं झरता।
अहो जगत् में नाश गुणों का क्या क्या अनर्थ है नहिं करता॥१३९॥

चन्द्र को लक्ष्य करके अनेक गुणयुक्त साधु के विद्यमान एक आद्य दोष की निन्दा

अरे चन्द्र तू तुझे हुवा क्या बता समल क्यों बना कुधी।
बनना तुझ को समल इष्ट था पूर्ण समल क्यों बना नहीं॥
तब मल को प्रकटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कहीं॥१४०॥

दोषों को आच्छादित करने वाले गुरु की अपेक्षा तो उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर प्रकट करने वाला दुर्जन ही श्रेष्ठ है

दोष छिपा कुछ शिष्य जनों के स्वयं मनो गुरु चले चला।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला॥
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नहीं रहा।
स्वल्प दोष भी बढ़ा चढ़ा खल भले कहें गुरु वही महा॥१४१॥

गुरु के कठोर वचन भी भव्य जीव के मन को प्रफुल्लित करते हैं

गुरु के वचनों में यद्यपि वह कठोरता भी रहती है।
भविक जनों के मन की कलियां तथापि खुलती खिलती हैं॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणें अगनी बरसातीं।
कोमल कोमलतम कमलों को किन्तु खुल खिला विहंसातीं॥१४२॥

वर्तमान में धर्म का आचरण तो दूर रहा, उसका उपदेश करने वाले और सुनने वाले भी दुर्लभ हो गये हैं

उभय लोक के हित की बातें कई सुनाते सुनते थे।
विगत काल में भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले।
हित पथ पर चलने वाले तो 'ईद चन्द्र' सम विरल खिले॥१४३॥

विवेकीजन के द्वारा प्रदर्शित दोष प्रीतिजनक तथा अविवेकी जन के द्वारा की गई स्तुति भी अप्रीतिकर होती है

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हें है जबकि दिखाते दूषण हैं।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है॥
बुधजन की जो करें प्रशंसा बिन आगम का ज्ञान अहा।
विज्ञ तुष्ट नहिं होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा॥१४४॥

विद्वान् गुण की अपेक्षा से वस्तु को ग्रहण और दोष की अपेक्षा से उसका त्याग किया करते हैं

सद्‌गति सुख के साधक गुण गण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं।
दुर्गती दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं॥
फलतः साधक को भजते हैं अहित विधायक को तजते।
सुबुध जनों में श्रेष्ठ रहें वे जन जन हैं उनको भजते॥१४५॥

दुर्बुद्धि और सुबुद्धि प्राणियों की विशेषता

अविनश्वर शिव सुख प्रद पथ तज अहित पंथ पर चलता है।
कुधी बनी है दुःख दाह से फलतः पल पल जलता है॥
कुटिल चाल तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता है।
सुधि नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता॥१४६॥

बिना जाने गुणों का ग्रहण और दोषों का परित्याग नहीं होता

मिथ्यात्वादिक दोष रहे हैं मोहादिक से उदित हुए।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते हैं मोहादिक जब शमित हुए॥
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता।
सुख निधि यश निधि वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता॥१४७॥

बुद्धिमान और निर्बुद्धि कौन कहलाता है

बढ़न किसी के घटन किसी के आयु धनादिक हैं चलते।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सब में मिलते ॥
किन्तु दृगादिक बढे, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहें।
इससे उलटा जीवन जिनका सुबुध कहें वे अज्ञ रहें ॥१४८॥

वर्तमान में तपस्वियों में समीचीन आचरण करने वाले विरले ही रह गये हैं

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियों से कलियुग में।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नहीं धन मुनिपद में ॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यों को नहिं शिवपथ दिखला सकता।
मूल्य मणी सम महामना मुनि महि में है विरला दिखता ॥१४९॥

अपने को मुनि मानने वाले वेषधारी साधुओं के संसर्ग से बचना चाहिए

निज को मुनि माने अति आकुल महिला जन के लखने से।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जैसे ॥
विषय वनी में जिन्हें कभी भी वना असंभव स्थिर रहना।
तूफानी बादल सम चंचल उनकी संगति मत करना ॥१५०॥

मुनि के पास स्वाभाविक सामग्री के रहने पर उसे याचना की आवश्यकता नहीं है

गेह गुफा हो गगन दिशायें तेरे हो वस वसन सदा।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा ॥
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणा-वली तव वनिता है।
वृथा याचना मत कर अब तू मुनियों की यह कविता है ॥१५१॥

याचक-अयाचक की निन्दा-प्रशंसा

सकल विश्व में और दूसरा नभ सम गुरुतम नहीं रहा।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नहीं रहा ॥
मात इसी पर ध्यान दे रहें सूक्ति यहां जो प्रचलित है।
स्वाभिमान मंडित जन औ क्या नहीं दीन से परिचित है ॥१५२॥

याचक की लघुता और दाता की गुरुता का प्रदर्शन

याचक बनकर दीन याचना दीन भाव से करता है।
मैं मानूं तब उसका गौरव दाता में जा भरता है॥
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहिं रखता है।
दान समय में दाता गुरु औ याचक लघु क्यों दिखता है॥१५३॥

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते हैं।
ग्रहण भाव को नहिं रखते वे ऊपर जाते दिखते हैं॥
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें बतलाती है।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है॥१५४॥

जो धन समस्त अर्थीजन को सन्तुष्ट नहीं कर सकता है उसकी अपेक्षा तो निर्धनता ही श्रेष्ठ है

धनी जनों से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते हैं।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हें धनी कब करते हैं॥
याचक की ना प्यास बुझाता धनिकपना क्या काम रहा।
धनिकपना से निर्धनपन मय मुनिपन वर अभिराम रहा॥१५५॥

आशारूपी खान मानरूपी धन से ही परिपूर्ण होती है

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है।
तीन लोक की सब निधियां भी जिसे नहीं भर पाई हैं॥
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है।
इसीलिये तू मान! मानधन ही धन भव दुख हरता है॥१५६॥

तीन लोक को नीचे जिसने किया थाह किसने पाई।
थाह नहीं है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई॥
किन्तु यही आश्चर्य रहा है किया इसे भी समतल है।
तज तज विषयों को भविकों ने धार तोष धन संबल है॥१५७॥

आहार को भी लज्जापूर्वक ग्रहण करने वाला तपस्वी अन्य परिग्रह को कैसे ग्रहण कर सकता है

भाव भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथा समय श्रावक देते।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते ।।
महामना मुनियों को वह भी लज्जा का ही कारण है।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण हैं।।१५८।।

यदि साधु राग-द्वेष के वशीभूत होते हैं तो यह इस कलिकाल का ही प्रभाव समझना चाहिए

देश अशन-धन गृही व्रती है दाता इस विध शास्त्र कहें।
निज पर हित हो अशन गहें मुनि निरीह तन से पात्र रहें ।।
पात्र दान दे पात्र दान से रागद्वेष यदि वे करते।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते ।।१५९।।

कर्मकृत दुरवस्था

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही।
सहज आत्म सुख इन्हें मिटाया विधि ने विधि पहिछान यही ।।
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नहीं।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यों सुखित बने दुख भाजन ही ।।१६०।।

यदि भोगों में ही तृष्णा है तो कुछ प्रतीक्षा करके स्वर्ग को प्राप्त करना चाहिए

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गों में तुम जावोगे।
विषयों की यदि रुचि है मन में विषयों को वस पाओगे ।।
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यों वृथा अहो ।।१६१।।

निर्धनता को धन और मृत्यु को ही जीवन समझाने वाले निःस्पृह तपस्वी का दैव कुछ नहीं कर सकता है

बाहर भीतर संग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा ।।
साधु जनों को एक मात्र बस विषद सुलोचन ज्ञान सही।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ।।१६२।।

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हें रही।
कर्म उन्हें पीड़ित कर सकता भीति कर्म से उन्हें रही।।
जिनकी आशा निराशता में किन्तु ढ़ली फिर कर्म भला।
उन्हें दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला।।१६३।।

तप के लिए चक्ररत्न को छोड़ने वाला महात्मा जैसे अतिशय प्रशंसा का पात्र है वैसे ही विषय सुख के लिए तप को छोड़ने वाला दुरात्मा अतिशय निन्दा का पात्र है

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते हैं।
परम पूज्य वे बनते, जन जन नाम उन्हीं के जपते हैं।।
पुरुष बने हैं किन्तु तपों को तज विषयन में झूल रहें।
पद पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहें।।१६४।।

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख तह चूंकि सुतप का सुफल रहा।।
समझ विषम विष विषयों को तज तपधर, पुनि तज तप मोही।
सुधी उन्हीं का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही।।१६५।।

तप से पतित होने वाला अधर्म साधु बालक से भी गया बीता है

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता।
संभावित पीड़ा लखकर तब कंपता भय से है घिरता।।
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति हैं।
किन्तु भीति नहिं होती उनको होते विस्मित हम अति हैं।।१६६।।

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो।
योग सुतप का उसे मिले तो शुचिपन से झट भूषित हो।।
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है।।१६७।।

संयम को छोड़ने वाला साधु अमृत पीकर पुनः उसको वमन करने वाले मूर्ख के समान है

जहां कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी हैं।
उन सब में भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है॥
परमामृत का प्रथम पान कर पुनः उसे जो वमन करें।
सुकुल रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन में रमण करें॥१६८॥

आरम्भादि बाह्य शत्रुओं के समान रागद्वेषादि अभ्यन्तर शत्रुओं को भी नष्ट करना चाहिए

बाह्य शत्रु आरंभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया।
निज बल संग्रह करने वाला अब थोड़ा बस जाग जिया॥
अशन शयन गमनादिक में हो जागृत निज रक्षण करना।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना॥१६९॥

उन राग-द्वेषादि को जीतने के लिए मन को आगमाभ्यास में लगाना चाहिए

कतिपय नयमय शाखाओं में वचन पत्र से सजा हुवा।
अमित धर्म के निलय अर्थमय फूल फलों से लदा हुवा॥
उन्नत 'श्रुत-तरु' समकित मतिमय जड़ जिसकी अति दृढ़तर भी।
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उस पर ही॥१७०॥

आगमाभ्यास में मन को लगाकर कैसा विचार करना चाहिए

अव्यय व्ययमय एक नैक भी विलसित होती निज सत्ता।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता॥
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही।
इस विध चिंतन बुधजन कर लो रहो जगत में जगत सही॥१७१॥

एक द्रव्य ही एक समय में ध्रौव्य रूप भी लसता है।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार कर हंसता है॥
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमें जो होता है॥१७२॥

बोध धाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय हो तत्त्व रहा।
चूंकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहां॥
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु, तत्त्व वह प्रतिपल है।
इसी भांति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है॥१७३॥

आत्मा का स्वरूप दिखलाकर ज्ञान भावना के चिन्तन की प्रेरणा

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवल ज्ञान रहा।
उसका मिलता ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो।
ज्ञान भावना के सरवर में संग त्याग अवगाह करो॥१७४॥

ज्ञान भावना का फल ज्ञान (केवल ज्ञान) ही है, उसका अन्य फल खोजना अज्ञानता है

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहिं अविनश्वर है॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने।
अहो! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने॥१७५॥

इस शास्त्ररूप अग्नि में पड़कर भव्य तो मणि के समान विशुद्ध हो जाता है और अभव्य मलिन कोयला या भस्म के समान हो जाता है

शास्त्र अग्नि में भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते॥
उसी अग्नि में मलिन मुखी हो राख-राख बनकर नशते।
किन्तु दुष्ट वे विषयी निज को विषय पाश से हैं कसते॥१७६॥

ध्यान में पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का विचार करते हुए राग-द्वेष का परित्याग करना चाहिए

बार-बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है।
पदार्थ दल जिस विध है उस विध उसको केवल चखना है॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करें।
किन्तु भूल भी राग रोष के कभी नहीं गुणगान करें॥१७७॥

जीव के संसार परिभ्रमण और मुक्ति प्राप्ति में मथानी का उदाहरण

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बंधन पलता।
तब तक भवदधि में आतम का भ्रमण नियम से है चलता ॥
एक छोर से रस्सी बंधती एक ओर से खुलती है।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है ॥१७८॥

एक ओर से भले छोड़ दो रस्सी, मथनी नहिं रुकती।
और छोर से नियम रूप से बंधती भ्रमती है रहती ॥
उसी भांति कुछ कर्म छोड़ते बंध भ्रमण पर नहिं मिटते।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बंध भ्रमण तब सब मिटते ॥१७६॥

राग-द्वेष से कर्मबन्ध और उनके अभाव से मोक्ष होता है

भले पालते समिति गुप्तियां तुम बहुविध तप हो धरते।
बहुविध विधि का बंधन बंधता राग द्वेष यदि हो करते ॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग रोष यदि नहिं करते।
उन्हीं समितियां गुप्ति पालकर मुक्ति रमा को झट वरते ॥१८०॥

हित पथ के प्रति अरुचि भाव औ अहित पंथ का राग वही।
पाप कर्म का बंध कराता अतः उसे तू त्याग यहीं ॥
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले।
दोनों मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१॥

राग-द्वेष का बीजभूत मोह व्रण के समान है

मूल और अंकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहें।
मोह बीज से राग द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहें ॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हें जला कर शान्त करो।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीड़ाप्रद होता।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता ॥

मोह घाव भी संग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा।
संग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

मित्र आदि के मरने पर शोक करना योग्य नहीं है

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हें जो करते हैं।
तथा शत्रु यदि उन्हें मानते दुखित तुम्हें जो करते हैं॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दुःख अति सहते हो।
अतः मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यों करते हो ॥१८४॥

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन हैं।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय में जड़ जन हैं॥
उन्हें सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहें।
सुधी करें ना शोक मरण में फलतः शिव सुख विमल गहें॥१८५॥

हानि के निमित्त से होने वाला शोक दुख का कारण है

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता॥
अतः सुधीजन इष्ट हानि में शोक किये बिन मुदित रहें।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद में हम नमित रहें॥१८६॥

यथार्थ सुख व दुख का स्वरूप

इस भव में जो सुखी हुवा हो वही सुखी पर भव में हो।
दुखी रहा है इस जीवन में वही दुखी पर भव में हो॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा॥१८७॥

जन्म मरण अविनाभावी है

मरण प्राप्त कर पुनः मरण को जग प्राणी जो पाते हैं।
उनका वह ही जनम रहा है साधु संत यों गाते हैं॥
किन्तु जन्म में जन्म दिवस में होते मोही प्रमुदित हैं।
मना रहे वे भावी मृतिका उत्सव यह मम अभिमत हैं॥१८८॥

तप और श्रुत का फल राग-द्वेष की निवृत्ति है, न कि लाभ-पूजादि

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-मतिवाला ॥
तर तरु में जो लगा फूल है उसे तोड़ता वृथा रहा।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा ॥१८९॥

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोड़न कर लो।
उचित तपों से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो ॥
इन्द्रिय विषयों कषाय रिपुओं जीत विजेता तभी बनो।
तप श्रुत का फल शम है मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो ॥१९०॥

स्वल्प भी विषयाभिलाषा अनर्थ को उत्पन्न करने वाली है, फिर उसका सेवन क्यों बार-बार करता है

विषय रसिक को लखकर क्यों कर विषय भाव मन में लाते।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन में लाते ॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे।
निषिद्ध मानो निषिद्ध ना हैं सशक्त भोगी को वैसे ॥१९१॥

अहित विधायक विषयों में रत विषयीजन भी त्याग करें।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन में एक बार भी राग करें ॥
भव भव में वे जिनने परखे विषय विषम विष से सारे।
निज हित में रत बुध किस विध फिर विषयों में रत हो प्यारे ॥१९२॥

बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा और परमात्मा बन जाने की प्रेरणा

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता।
अब तू मुनि बन निज चारित जल से अंतर आतम धुलता ॥
मिले आत्म से परमातम पद मिलता केवल ज्ञान महा।
आतम से आतम में आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

शरीर के स्वरूप को दिखलाकर उसके नष्ट होने के पूर्व उससे आत्मप्रयोजन सिद्ध कर लेने की प्रेरणा

दास बनाकर तन ने अब तक कष्ट दिया अति कटुतर है।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है॥
जब तक तन की स्थिति है तब तक ले लो तुम इससे बदला।
स्वयं शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला॥१६४॥

प्रथम जनन हो तन का तन में भांति-भांति इन्द्रिय उगती।
इन्द्रिय निज निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती॥
फलतः होती मान हानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो।
अनर्थ जड़ है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो॥१६५॥

शरीर को पुष्ट करके विषय सेवन करना विषभक्षण करके जीवित रहने की इच्छा के समान है

मोह भाव से मंडित जन ही तन का पोषण करते हैं।
विषयों का सेवन करते हैं आतम शोषण करते हैं॥
सब कुछ उनको सुलभ रहे हैं कोई दुष्कर कार्य नहीं।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नहीं॥१६६॥

कलिकाल में वन को छोड़कर गांव के समीप रहने वाले मुनियों के ऊपर खेद व्यक्त करना

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन में भ्रमते।
किन्तु रात में ग्रामादिक के निकट थान में आ जमते॥
इसी भांति कलियुग में मुनिगण दिन में रहते हैं वन में।
किन्तु खेद ! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन में॥१६७॥

स्त्री कटाक्षों के वशीभूत हुए तपस्वी से तो गृहस्थ अवस्था ही कहीं अच्छी है

यदपि आज तुम तप धरते हो बचकर रागी बनने से।
यदि लुटती वैराग्य संपदा कल स्त्रीजन के लखने से॥
जनन मरण तो नहीं मिटाता किन्तु बढ़ाता उस तप से।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही शास्त्र कह रहा तुम सबसे॥१६८॥

मूर्त शरीर और अमूर्त आत्मा में अभेद सम्भव नहीं है

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव कष्ट खेद बस हाय यही॥
तव तन नहीं है तन में रचता अभेद जिसको मान रहा।
छिदता भिदता भव वन में तू बहुत दुखी भयवान रहा॥२००॥

शरीर का कुटुम्ब

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहें।
विविध आधियां दुखद व्याधियां तथा सगे तब भ्रात रहें॥
अन्त समय में साथ दे रहा परम मित्र है जरा वही।
फिर भी तन में आशा अटकी भला सोच तू जरा सही॥२०१॥

आत्मा और शरीर का स्वरूप दिखलाकर शुद्ध आत्मा को अशुद्ध करने वाले उक्त शरीर की निन्दा

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा॥
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचि धाम मल झरता है।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है॥२०२॥

शरीर को अपवित्र जानकर उसका परित्याग करना बड़े साहस का काम है

नर सुर पशु नारक गतियों में सुचिर काल से दुखित हुवा।
उसका कारण तन धारण तन-पालन में तू निरत हुवा॥
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है।
अब यह साहस ! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है॥२०३॥

रोगादि के उपस्थित होने पर भी यति खेद को प्राप्त नहीं होता तथा उसके अप्रती कार्य होने पर वह शरीर को ही छोड़ देता है

जिनके तन में असहनीय हो कर्म योग से रोग रहें।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहें॥
उचित रहा यह भले बढ़ रहा नीर नदी में बड़ी नदी।
छिद्र रहित नौका में बैठा यात्री डरता कभी नहीं॥२०४॥

साधक तन में रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करें।
यदि नहिं मिटता तन तज निज पर समता धर उपकार करें ॥
आग लगी हो घर में यदि तो जल से उसका शमन करें।
नहीं बुझे तो वहीं रहें क्या ? और कहीं झट गमन करें ॥२०५॥

रोगादि के प्रतीकार में कल्पित सुख का उदाहरण

सर पर भारी भार स्वयं ले पथिक चल रहा पथ पर हो।
किसी तरह कंधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो ॥
यदपि भार तन पर से उतरा नहीं तदपि वह अज्ञानी।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हंसते सब ज्ञानी ॥२०६॥

अप्रती कार्य रोगादि का प्रतीकार अनुद्वेग है

सदुपचार से रोगों का यदि प्रतीकार वह हो सकता।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथा योग्य बस कर सकता ॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित हैं।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है ॥२०७॥

शरीर ग्रहण का नाम संसार और उससे छुटकारा पाने का नाम ही मुक्ति है

तन रति रखता फिर-फिर तन धर यह भव वन में भ्रमता है।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन में रमता है ॥
इसीलिए बस इस जीवन में त्याज्य रहा तन रति तन है।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पों से तो केवल बंधन है ॥२०८॥

आत्मा को अस्पृश्य बनाने वाले शरीर की निन्दा

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जड़मय है।
पूज्य बनाता उसे चरित से आतम का यह अतिशय है ॥
किन्तु काय तो आतम को भी निन्द्य बनाता नीच अहा।
इसीलिए धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा ॥२०९॥

संसारी प्राणी के तीन भागों का निर्देश करके तत्वज्ञ का स्वरूप निरूपण

रस रुधिरादिक सप्त धातुमय जिसका आदिम भाग रहा।
ज्ञानावरणादिक कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा॥
ज्ञानादिक गुण-गण ले चिर से भाग तीसरा वह भाता।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता॥२१०॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है।
निःग्र रहा है वसु विध विधि के कलुषित पीव न पीता है॥
सही जानकर दो भागों से पृथक् जीव को कर सकता।
तत्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता॥२११॥

तपश्चरण के अभाव में ज्ञानी जीव के लिए कषाय-शत्रुओं को तो जीतना ही चाहिए

घोर घोरतर विविध तपों को मतकर यदि नहिं कर सकता।
क्योंकि दीर्घ संहनन नहीं है क्लेश सहन नहिं कर सकता॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहिं करता।
विज्ञ कहें तब यही अज्ञता मैं समझूं यह कायरता॥११२॥

कषायजय के बिना उत्तम क्षमा आदि गुणों की प्राप्ति असम्भव है

अगाध यद्यपि हृदय सरसि शुचि चेतन जल से भरित रहा।
कषायमय हिंसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहिं मिलते।
यम दम शम सम क्रमशः पालो फलतः पल में ये मिटते॥२१३॥

जो स्वयं कषायों के वशीभूत हो करके भी अपने शान्त मन की प्रशंसा करते हैं उनके लिए चूहे-बिल्ली का उदाहरण

शांत मनस की करे प्रशंसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा।
किन्तु संग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है।
जिससे इहभव पर भव सुख से वंचित जीवन निष्फल है॥२१४॥

तपश्चरण आदि में उद्युक्त होने के साथ दुर्जन मात्सर्यभाव को भी छोड़ना चाहिए

सागर जल सम यद्यपि तुम में बोध, शास्त्र का मनन किया।
कठिन तपस्या में भी रत हो कषाय का भी हनन किया॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममें उसको शीघ्र तजें।
जिस विध सर सूखे ऊपर, नहिं दिखता नीचे नीर बचे॥२१५॥

क्रोध से होने वाली कार्य हानि के लिए महादेव का उदाहरण

अबोध वश शिव ने मन में स्थित मनोज को ही भुला दिया।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित हो कर जला दिया॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी ना हो? उचित रहा॥२१६॥

मान के कारण बाहुबली क्लेश को प्राप्त हुए

बाहुवली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा।
उसे तजा मुनि हुवा वनी में निसंग वन निर्वस्त्र बसा॥
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा।
स्वल्प मान भी महा हानि का दायक है वृषभेष कहा॥२१७॥

वर्तमान में गुणों का लेश भी न होने पर प्राणी अभिमान को प्राप्त होता है

दान पुण्य में धन जिनके मन में आगम करुणा उर में।
शौर्य बाहु में सत्य वचन में लक्ष्मी परम पराक्रम में॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व में बहु मिलते।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से हैं चलते॥२१८॥

संसार में उत्तरोत्तर एक-दूसरे से गुणाधिक देखे जाने पर मान करना योग्य नहीं है

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले।
वात वलय त्रय आश्रित चिर से रहते नभ के आश्रय ले॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन में जब दिखता।
निज से गुरु हैं उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता? ॥२१९॥

माया से होने वाली हानि के लिये मरीचि, युधिष्ठिर और कृष्ण का उदाहरण

मरीचिका यश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वथाम का मरण हुवा॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुनो! शाम घनशाम बने।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने॥२२०॥

माया से भयभीत रहने की प्रेरणा

माया का जो गर्त रहा है अतल अगम अति बड़ा रहा।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा॥
जिसमें अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन हैं।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नहीं दीखती अनगिन हैं॥२२१॥

मायावी समझता है कि मेरे कपट व्यवहार को कोई नहीं जानता, परन्तु वह प्रगट हो ही जाता है

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यों उचित नहीं॥
धवल धवलतम निजकिरणों से ताप मिटाता शांत अहो!।
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो?॥२२२॥

लोभ के वश होकर प्राण देने वाले चमर मृग का उदाहरण

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूंछ कहीं।
लता कुंज में बाल लोलुपी अचल खड़ी सुध भूल वहीं॥
फलतः जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा।
विपदाओं से घिरे रहें अति लोभी जन 'यह वेद' रहा॥२२३॥

विषयविरति आदि गुण निकट भव्य को ही प्राप्त होते हैं

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना।
कषाय निग्रह संग त्याग औ विषयों में ना फंस मरना॥
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक जनों में प्रकट रहें।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहें॥२२४॥

क्लेशजाल को समूल कौन नष्ट करता है

सब जीवों पर करुणा रखते ध्यानन में नित निरत रहें।
अशन यथाविधि स्वल्प करें मुनि जित निंद्रक हैं विरत रहें॥
दृढ़तर संयम नियम पालते बाहर भीतर शांत रहें।
समूल दुख को नष्ट करें वे सार आत्म का ज्ञात रहें॥२२५॥

मुक्ति के भाजन कौन होते हैं

निज हित में ही दत्त चित्त हैं सकल पाप से दूर रहें।
स्वपर भेद विज्ञान सहित हैं इन्द्रिय विजयी शूर रहें॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन में कुछ संकल्प नहीं।
शिव सुख भाजन क्यों ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नहीं॥२२६॥

रत्नत्रय के धारक साधु को इन्द्रिय-चोरों से सदा सावधान रहना चाहिये

दास बना है विषयों का जो जीवन जिसका परवशता।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता?॥
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे हैं डरना जगना है तुमको॥२२७॥

संयम के साधनभूत पीछी-कमण्डलु आदि से भी मोह छोड़ने का उपदेश

रम्य वस्तुयें वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया।
संयम साधक उपकरणों में वृथा भला क्यों राग किया॥
मुझे बता दे रोग भीति से यदपि अशन ना खाता है।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है॥२२८॥

धीर बुद्धि तपस्वी अपने को कृतार्थ कब मानता है

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता॥
तप श्रुत का साधन कर उस विध जब निज में अतिथिति पाता।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता॥२२९॥

ज्ञान के अभिमान में आशा-शत्रु की उपेक्षा नहीं करना चाहिये

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे॥
अपार सागर जल, बाड़व को देख! देखकर हिलता है।
शत्रु रहें यदि निकट उसे कब जीवन में सुख मिलता है॥२३०॥

रागी जीव ज्ञान-चारित्र से संयुक्त होने पर भी प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं होता

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है।
स्तुत्य नहीं वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है॥
पाप कर्म का बंधन जिससे चूंकि निरन्तर चलता है।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जला कर जलता है॥२३१॥

जब तक जीव राग को छोड़कर द्वेष और फिर उसे छोड़कर पुनः राग को प्राप्त होता रहेगा तब तक वह कष्ट ही पाता रहेगा

राग रंग से जब तू हटता रोष नियम से करता है।
रोष भाव को तजता फिर से राग रंग में ढलता है॥
किन्तु कभी ना रोष तोष तज लाता मन में समता है।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भव कानन में भ्रमता है॥२३२॥

जब तक मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक जीव दुखी ही रहता है

तपा लोह का गोला जिस विध जल कण से नहिं शांत बने।
पूर्ण रूप से उसे डुबा दो गहरे जल में शान्त बने॥
दुःख अनल में तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नहीं।
मिटती मिलती मोक्ष सिंधु में डूबे तो चिर शान्ति सही॥२३३॥

मोक्ष प्राप्ति के लिये सम्यक्त्व के साथ ज्ञान व चारित्र की आवश्यकता

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है।
तुम्हें शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है॥२३४॥

मोक्षार्थी जीव को अभोग्य व भोग्य रूप विकल्प बुद्धि से जब तक निवृत्य अर्थ है तब तक निवृत्ति का अभ्यास करना चाहिये

यथार्थ में यह सकल विश्व ही एक रूप है योग्य रहा।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इसविध विकल्प तजना है।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हें यदि निर्विकल्प पन भजना है॥२३५॥

त्याज्य वस्तुयें जब तक तुम नहिं तजते तब तक बुधजन से।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती॥२३६॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति का स्वरूप

राग द्वेष यदि मन में उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को तातें॥२३७॥

पूर्व में अभावित भावनाओं का चिन्तन श्रेयस्कर है

महा भयानक भव भंवरों में भ्रमित पड़ा मैं दुख पाता।
जिन भावों को भा न सका अब उन भावों को बस भाता॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढ़ा लिया।
उन्हें तजूं निज भाव भजूं है भवनाशक गुरु पढ़ा दिया॥२३८॥

शुभादि तीन और अशुभादि तीन में हेय अशुभ की अपेक्षा यद्यपि शुभ अनुष्ठेय हैं, फिर भी शुद्ध का आश्रय लेने के लिये वह शुभ भी त्याज्य ही है

सुनो शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहें।
प्रति युगलों में आदिम त्रय हैं हित कारण हैं विमल रहें॥
उनको तुम अपने जीवन में धारण कर लो सुख वर लो।
अशुभ पाप दुख शेष अहित हैं अहित हेतुवों को हर लो॥२३९॥

हित कारक में भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा।
पुण्य और सुख स्वयं छूट ही जाते हैं मुन आर्य ! महा॥
इस विध शुभ को छोड़ शुद्ध में श्वास श्वास पर बस रमना।
अन्त समय में अनंत पद पा अनन्त भव में ना भ्रमना॥२४०॥

आत्मा के अस्तित्व और उसकी बद्ध अवस्था को दिखलाकर बन्ध व मोक्ष के कारणों की प्ररूपणा

जीव रहा चिर बंधन बंधित बंधन तनादि आस्रव से।
आस्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धारे योग रोध कर शिव जाते॥२४१॥

ममेदंभाव इति के समान अनिष्टकर है

यह तन मेरा रहा' रहा, मैं इसका इसविध प्रीति रही।
तब तक तप-फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खड़ी।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही॥२४२॥

भव भ्रमण का कारण

तन ही मैं हूं मैं ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा।
भवसागर में फलतः अब तक दुखित रहा है क्लान्त रहा॥
अन्य रहा हूं तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा।
तन तो तन है मैं तो मैं हूं शिवसुख दे चैतन्य महा॥२४३॥

बाह्य पदार्थों में अनुरक्त रहने से बन्ध तथा उनमें विरक्त होने से मोक्ष प्राप्त होता है

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल में अन्ध हुवा।
पर पदार्थ में रत तू था तब दृढ़ दृढ़तम विधि बंध हुवा॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय में कारण है।
सुधी जनों की सहज कुशलता अगम अहो ! अघमारण है॥२४४॥

बन्ध व निर्जरा की हीनाधिकता

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बंधन वह होता है।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बंध ही होता है॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञात रहें।
बंध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहें॥२४५॥

योगी का स्वरूप

गत जीवन में जिसने बांधा पुण्य रहा औ पाप रहा।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले।
पुनः कर्म का आस्रव नहिं हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले॥२४६॥

गुणयुक्त तप में उत्पन्न साधारण-सी भी क्षति की उपेक्षा नहीं करना चाहिये

महा सुतप मय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता।
उजल-उजल तम शान्त शान्त तम गुणमय जल से लहराता॥
नियम रूप जो बांध बंधी है किन्तु कभी वह ना फूटे।
रहो उपेक्षित मत उससे तुम नहिं तो जीवन ही लूटे॥२४७॥

यति को गृह की उपमा देकर रागादिरूप सर्पों से सावधान रहने की प्रेरणा

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ़ गुप्तित्रय द्वार रहें।
मतिमय जिसकी नींव रही है धैर्य रूप दीवार रहें॥
किन्तु कहीं भी दोष छिद्र यदि उसमें हो तो धुसते है।
राग रोष मय कुटिल सर्प वे भय से मुनिगुण नशते हैं॥२४८॥

परनिन्दा से राग-द्वेषादि पुष्ट होते हैं

कठिन कठिनतर विविध तपों को तपता तापस बनकर है।
पूर्ण मिटाने निज दोषों को पूर्ण रूप से तत्पर है॥
पर दोषों को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जीता है।
निज दोषों को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है॥२४९॥

दोषदर्शी दुर्जन किसी एक आद्य दोष से संयुक्त अनेक गुणयुक्त महात्मा के स्थान को नहीं पाता है

विधिवश शशि सम कलंक गुणगण-धारक को यदि लगता।
मूढ़ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता?।
स्वयं प्रकट शशि कलंक लख भी विश्व कभी शशि बन पाता? ॥२५०॥

योगी को अपना पूर्व आचरण अज्ञानतापूर्ण प्रतीत होता है

विगत काल में जो कुछ हमने किया कराया मरण किया।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अंधकार निष्कासित हो॥२५१॥

शरीर में भी ममत्वबुद्धि रहने से तपस्वियों की भी आशा पुष्ट होती है

जिनके मन की जड़ वह ममता-जल से भींगी जब तक है।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवति ही तब तक है॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अतः करे वे बुधजन हैं।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन हैं॥२५२॥

अभेद स्वरूप से स्थित भी शरीर और आत्मा में भेद है, इसके लिये उदाहरण

क्षीर नीर आपस में मिलकर एक रूप ही दिखते हैं।
यथार्थ में तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते हैं॥
उसी भांति तन आतम भी हैं भिन्न-भिन्न फिर सही बता।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न हैं फिर इनकी क्या रही कथा॥२५३॥

मोक्षाकांक्षियों ने सन्ताप का कारण जानकर शरीर को छोड़ा है और आत्यन्तिक सुख प्राप्त किया है

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है।
तप्त हुवा हूं देह योग से सता रही आकुलता है॥
इस विध चिंतन बार-बार कर भव्य जनों ने तन त्यागा।
शान्त हुए विश्रान्त हुए हैं जिनमें अनन्त बल जागा॥२५४॥

जिन्होंने मोह को नष्ट कर दिया उन्हीं का परलोक विशुद्ध होता है

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नहीं पता।
कब से बैठा मन में मदमय महामोह है यही व्यथा॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया॥२५५॥

साधु आपत्ति के समय भी सदा सुखी रहते हैं

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है।
तन क्षय को मनवांछित मिलना निसंगपन को संपद है॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हें साधु वे सही सुधी।
सब कुछ लूटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी॥२५६॥

सुबुध उदय में असमय में ला तप से विधि को खपा रहें।
स्वयं उदय में विधि यदि आता खेद नहीं विधि कृपा रहें॥
विजय भाव से रिपु से भिड़ने लड़ने भट यदि उद्यत हो।
खुद रिपु चढ़ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत् हो॥२५७॥

वे साधु सिंह के समान निर्भय होकर भयानक पर्वत की गुफाओं में ध्यान करते हैं

सहे परीषह सकल संग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी।
तन भी शिव का कारण इस विध सोच लाज वश क्लान्तयमी॥
निजी कार्यरत अकाय बनने आसन दृढ़कर ध्यान करें।
गिरी कन्दर में अभय सिंह सम मोह रहित निज ज्ञान धरें॥२५८॥

मोक्षार्थी निःस्पृह साधुओं की प्रशंसा

स्थान शिलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी।
रहें सिंह वह गुफा गेह है शय्या धरती शूलमयी॥
यह मम यह मैं विकल्प छोड़े मोह ग्रंथियां सब तोड़े।
शुद्ध करें मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोड़े॥२५९॥

जिनमें अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई।
किसी तरह भी निज को पाये तप्त चेतना मुदित हुई॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन में जिनको लखते हैं।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते हैं॥२६०॥

आशा आतम में जो अन्तर अज्ञ जनों को ज्ञात नहीं।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नहीं॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज में नियमित अचल रहें।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करें॥२६१॥

पूर्व जन्म में बंधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा।
वही उदय में आता सुख दुख पाता तू स्वयमेव अहा॥
स्तुत्य रहें शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन हैं।
शुभाशुभों को पूर्ण मिटाने तजे संग धन परिजन हैं॥२६२॥

सुख और दुख में उदासीनता संवर और निर्जरा की कारण है

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा।
हर्ष भाव क्यों खेद भाव क्यों करना, करना विफल रहा॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बंध ना फिर बनता।
पूर्व कर्म सब झड़े साधु तब मणि सम मंजुलतर बनता॥२६३॥

यति का आचार आश्चर्यजनक है

पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह में जनम लिया।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया॥
हुई राख तन तदुपरान्त भी उद्दीपित हो जलता है।
विस्मय-कारक साधु चरित है पता न बल का चलता है॥२६४॥

मुक्त अवस्था में ज्ञानादि गुणों का अभाव हो जाता है,
इस वैशेषिक मत में दूषण

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा।
विलय गुणों का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा॥
अतः 'मोक्ष' गुण गुणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत है।
रागादिक की किन्तु हानि ही 'मोक्ष' रहा यह 'जिनमत' है॥२६५॥

जीव का स्वरूप

निज गुण कर्त्ता निज सुख भोक्ता अमूर्त सुख से पूर रहें।
केवलज्ञानी जनन दुःख से तथा मरण से दूर रहें॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे।
अंतिम तन आकर जिन्होंका असंख्य देशी विमल लसे॥२६६॥

सिद्धों का सुख

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप में अन्तर्धान रहें।
तत्र कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहें॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए हैं अविनश्वर सुखधाम हुए।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हें स्मरें कृत काम हुए॥२६७॥

आत्मानुशासन के चिन्तन का फल

इस विध कतिपय शुभ वचनों का माध्यम मैंने बना लिया।
बुध मन रंजक कृत्य रचा है विषयों से मन बचा लिया॥
शिवसुख पाने करते मन में इसका चिंतन अविकल हैं।
मिटे आपदा मिले संपदा उन्हें शीघ्र सुख निर्मल है॥२६८॥

ग्रन्थकर्ता द्वारा गुरु के नाम स्मरणपूर्वक आत्मानुशासन के कर्त्ता रूप से निजनाम का प्रकाशन

परम पूत आचार्य दिगंबर वीतराग जिनसेन रहें।
जिनके पद की स्मृति में जिसका मानस रत दिन रैन रहे॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की॥२६९॥

मंगल कामना

विषद पूर्ण मम ज्ञान हो विभाव मुझ से दूर।
ध्यान विषय का तज स्मरूं स्वभाव सुख से पूर॥१॥

साधु बने समता धरो समयसार का सार।
गति पंचम मिलती तभी मिटती हैं गति चार॥२॥

रति पति भी अति भीत हो यति पति पद में लीन।
बिराग समकित का यही सुफल बनो रति हीन ॥३॥

रहूं रमूं निज में सदा भ्रमूं न पर में भूल।
चिदानन्द का लाभ लूं पर तो सब कुछ धूल ॥४॥

तब तक जिन स्तुति मैं करूं जब तक घट में प्राण।
गुणनिधि बनना ध्येय हो अघ की पल में हान ॥५॥

नोबत दुख की अब नहीं आयेगी मतिमान।
दया-धर्म उर धारता शिवपथ पर गतिमान ॥६॥

यम दम शम औ सम धरो क्रमशः कम श्रम होय।
है जिनवर का वर यही 'मत' मन में मम होय ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूं नहीं मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियां होवे यदि यहां शोध पढ़ें धीमान ॥

गुरु-स्मृति

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥

समय एवं स्थान परिचय

संगमुक्त मुक्तागिरी पर ससंघ इस वर्ष।
धारा वर्षायोग है पाया आत्मिक हर्ष ॥१॥

काल गगन गति गंध की कार्तिक कृष्णा तीज।
पूर्ण किया इस ग्रंथ को भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥२॥

समन्तभद्र की भद्रता

अनुवादक—**आचार्य विद्यासागर मुनि**

श्रीमत्स्वामि-समन्तभद्राचार्य-विरचित

चतुर्विंशति-जिन-स्तवनात्मक

स्वयम्भू-स्तोत्र

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचमगति होय ॥१॥

स्वामी समन्तभद्र हो मैं तो रहा अभद्र।
मम उर में आ तुम वसो बन जाऊं मैं भद्र ॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर! करुणा करो कर से दो आशीष ॥३॥

चन्दन चन्दर चांदनी से जिन-धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूं मन वच तन कर नीत ॥४॥

स्वयंभु-थुति का मैं करूं पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मन रही मोह मिटे परमाद ॥५॥

वृषभनाथ-स्तवन

ज्ञानोदय छन्द (लय—मेरी भावना)

पर से बोधित नहीं हुए पर स्वयं आप ही बोधित हो।
समकित-संपत्ति ज्ञान नेत्र पा जग में जग हित शोभित हो॥
विमोह-तम को हरते तुम प्रभु निज-गुण-गण से विलसित हो।
जिस विध शशि तम हरता शुचितम किरणावलि ले विकसित हो॥१॥

जीवन इच्छुक प्रजाजनों को जीवन जीना सिखा दिया।
असि, मषि, कृषि आदिक कर्मों को प्रजापाल हो दिखा दिया॥
तत्त्व-ज्ञान से भरित हुए फिर बुध-जन में तुम प्रमुख हुए।
सुर-पति को भी अलभ्य सुख पा विषय-सौख्य से विमुख हुए॥२॥

सागर तक फैली धरती को मन-वच-तन से त्याग दिया।
सुनन्द-नन्दा वनिता तजकर आतम में अनुराग किया॥
आतम-जेता मुमुक्षु बनकर परीषहों को सहन किया।
इक्ष्वाकू-कुल-आदिम प्रभुवर अविचल मुनिपन वहन किया॥३॥

समाधि-मय अति प्रखर अनल को निज उर में जब जनम दिया।
दोष-मूल अघ-घाति कर्म को निर्दय बनकर भसम किया॥
शिव-सुख-वांछक भविजन को फिर परम तत्त्व का बोध दिया।
परम-ब्रह्म-मय-अमृत पान कर तुमने निज घर शोध लिया॥४॥

विश्व-विज्ञ हो विश्व-सुलोचन बुध-जन से नित वंदित हो।
पूरण-विद्या-मय तन धारक बने निरंजन नंदित हो॥
जीते छुट-पुट वादी-शासन अनेकान्त के शासक हो।
नाभि-नन्द हे! वृषभ जिनेश्वर मम-मन-मल के नाशक हो॥५॥

दोहा

आदिम तीर्थंकर प्रभो आदिनाथ मुनिनाथ!
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद में मम माथ॥१॥

शरण, चरण हैं आपके तारण तरण जहाज।
भव-दधि-तट तक ले चलो! करुणाकर जिनराज॥२॥

अजितनाथ-स्तवन

बन्धु-वर्ग तो खेल-कूद में भी विजयी तव मस्त रहा।
अजेय-बनकर अमेय बल पा मुदित मुखी बन स्वस्थ रहा॥
यह सब प्रभाव मात्र आपका दिवि से आ जब जन्म लिया।
'अजित'-नाम तव सार्थक रख तव परिजन सार्थक जन्म किया॥१॥

अजेय शासन के शासक थे अनेकान्त के पोषक थे।
भविजन हित-सत पथदर्शक थे अजित नाथ ! जग-तोषक थे॥
वांछित-शिव-सुख, मंगल पाने मुमुक्षु जन अविराम यहां।
आज ! अभी भी लेते जिन का परम सुपावन नाम महा॥२॥

भवि-जन का सब पाप मिटे बस यही भाव ले उदित हुए।
मुनि नायक प्रभु समुचित बल ले घाति-घात कर मुदित हुए॥
मेघ-घटा बिन नभ-मंडल में दिनकर जिस विध पूर्ण उगा।
कमल-दलों को खुला-खिलाता, अन्धकार को पूर्ण भगा॥३॥

चन्दन-सम शीतल जल से जो भरा लबालब लहराता।
तपन ताप से तपा मत्त गज उस सर में ज्यों सुख पाता॥
धर्म-तीर्थ तव परम-श्रेष्ठ शुचि जिसमें अवगाहन करते।
काम-दाह से दग्ध दुखी जन पल में सुख पावन वरते॥४॥

शत्रु मित्र में समता धरकर परम ब्रह्म में रमण किया।
आत्म-ज्ञान-मय सुधा-पान कर कषाय-मल का वमन किया॥
आतम-जेता अजित-नाथ हो चेतन-श्री का वरण किया।
जिन-पद-संपद-प्रदान कर दो तुम-पद में 'यह' नमन किया॥५॥

दोहा

जित इन्द्रिय जित मद बने, जित भव विजित कषाय।
अजित-नाथ को नित नमूं, अजित दुरित पलाय॥१॥

कोंपल पल-पल को पले, वन में ऋतु-पति आय।
पुलकित मम जीवन-लता, मन में जिन पद पाय॥२॥

शम्भवनाथ-स्तवन

ऐहिक सुख-तृष्णामय रोगों से जो पीड़ित जग जन हैं।
उन्हें निरोगी पूर्ण बनाने वैद्य रहे शंभव जिन हैं।।
प्रति-फल की पर वांछा कुछ नहिं बिना-स्वार्थ परहित रत हैं।
वैद्य लोग ज्यों रोग मिटाते दया-भाव से परिणत हैं।।१।।

अहंकार-मय विभाव भावों मिथ्या-मल से रंजित है।
क्षणिक रहा है त्राण-हीन है जगत रहा सुख वंचित है।।
जनन-मरण से जरा रोग से पीड़ित दुःखित विकल अहा!
उसे किया जिन निरंजना-मय शान्ति पिला कर सबल महा।।२।।

बिजली-सम पलजीवी चंचल इन्द्रिय-सुख है तनिक रहा।
तृष्णा-मय-मारी के पोषण का कारण है क्षणिक रहा।।
तृष्णा की वह वृद्धि, निरंतर उपजाती है ताप निरा।
ताप जगत को पीड़ित करता जिन कहते, तज पाप जरा।।३।।

बंध-मोक्ष क्या उनका कारण सुफल मोक्ष का कौन रहा?
बद्ध जीव औ मुक्त जीव सब जग में रहते कौन कहां?
ये सब वर्णन देव! तुम्हारे स्याद्-वाद मत में पाते।
एकान्ती-मत में ना, पाते शिव-पथ-नेता तुम तातें।।४।।

पुण्य वर्धनी तुम स्तुति करने इन्द्र विज्ञ असमर्थ रहा।
किन्तु अज्ञ मैं स्तोत्र कार्य में उद्यत हूं ना अर्थ रहा।।
तदपि भक्तिवश तुम-पद-पंकज-स्तुति, अलि बन अनिवार्य किया।
शिव-सुख की कुछ गंध सुंघा दो आर्य देव! शुभ कार्य-किया।।५।।

दोहा

तुम-पद पंकज से प्रभो झर-झर-झरी पराग।
जब तक शिव-सुख ना मिले पीऊं षट्पद जाग।।१।।

भव-भव, भव-वन भ्रमित हो भ्रमता-भ्रमता आज।
शंभव-जिन भव शिव मिले पूर्ण हुआ मम काज।।२।।

अभिनन्दननाथ-स्तवन

क्षमा-सखी युत दया-वधू में सतत निरत हो नन्दन हो।
गुण-गण से अति परिवर्धित हो इसीलिए अभिनन्दन हो।।
'लक्ष' बना कर समाधि भर का समाधि पाने यमी बने।
बाहर-भीतर नग्न बने प्रभु ग्रन्थ तजे सब दमी बने।।१।।

निरे अचेतन तन-मन-धन हैं वचन बंधु-जन तनुज रहें।
हम इनके ये रहें हमारे इस विध जग के मनुज रहें।।
मोह-भूत के वशीभूत हो अस्थिर को स्थिर समझे हैं।
तत्त्व-ज्ञान प्रभु उन्हें बताया उलझे जन-जन सुलझे हैं।।२।।

अशन-पान कर, क्षुधा तृषा से जनित दुःख के वारण से।
तन तन धारक नहिं ध्रुव बनते, क्षणिक विषय सुख पालन से।।
इसीलिए ये विषय सुखादिक किसी तरह नहिं गुणकारी।
इस विध इस जग को समझाया प्रभो आप गुणगणधारी।।३।।

यदपि दास बन विषयों का शठ लोलुपता से पूर रहा।
तदपि नृपादिक भय से परवश दुराचार से दूर रहा।।
इस पर भव में 'दुखद' विषय है इस विध जो जन यदि जाने।
किस विध विषयन में फिर रमते यही कहा प्रभु, बुध माने।।४।।

विषयों की वह विषय-वासना ताप बढ़ाती क्षण-क्षण है।
तृष्णा फलतः द्विगुणित, जिस सुख, से तोषित ना जड़ जन हैं।।
सदुपदेश यों देते जिससे निहित-लोक-हित तुम मत में।
अतः शरण हो सुधी जनों के मुनि गण के सब अभिमत में।।५।।

दोहा

विषयों को विष लख तजूं बन कर विषयातीत।
विषय बना ऋषि ईश को गाऊं उनका गीत।।१।।

गुण धारे पर मद नहीं मृदुतम हो नवनीत।
अभिनन्दन जिन! नित नमूं मुनि वन मैं भवभीत।।२।।

सुमतिनाथ-स्तवन

स्व पर तत्त्व का सही सुनिर्णय सुयुक्तियों से स्वतः लिया।
सुमति-नाथ मुनि 'सुमति' नाम को सार्थक तुमने अतः किया॥
शेषमतों में क्रिया-कर्म औ कारण कारण की विधियां।
चूंकि सही नहिं सभी सर्वथा एकान्तीपन की छवियां।॥१॥

तुमसे स्वीकृत तत्त्व सही है अनेक भी है एक रहा।
पर्यय वश वह अनेक देखता द्रव्य अपेक्षा एक रहा॥
इक उपचारी इनमें हो तो दूजा झूठा, इक लय से।
शेष मिटेगा अवाच्य जिससे तत्त्व बनेगा निश्चय से॥२॥

तत्त्व कथंचित असत्त्व सत ही अपर अपेक्षा चहक रहा।
नभ में यद्यपि न पुष्प खिला पर, तरु पर खुल-खिल महक रहा॥
तत्त्व, सत्त्व औ असत्त्व बिन यदि, रहा, नहीं सम्मानित है।
तुम मत से प्रभु अन्य सभी मत, स्वीय वचन से बाधित हैं॥३॥

तत्त्व सर्वथा नित्य रहा जो मिटता-उगता नहीं कभी।
तथा क्रिया औ कारक विधियां उसमें बनती नहीं कभी॥
जनन असत का नहीं सर्वथा सत भी वह ना विनस रहा।
दीपक, खुद बुझ, सघन तिमिर बन, पुद्गल-पन से विहस रहा॥४॥

नास्तिपना और अस्तिपना है इष्ट कथंचित् यही सही।
वक्ता के कथनानुसार ये मुख्य-गौण हो कभी कहीं॥
तत्त्व-कथन की सही प्रणाली सुमति-नाथ प्रभु तब प्यारी।
स्तुति करती है तव, मम मंदा मति, अमंद हो सुख प्याली॥५॥

दोहा

सुमति नाथ प्रभु सुमती दो मम मति है अति मंद।
बोध कली खुल-खिल उठे महक उठे मकरन्द॥१॥

तुम जिन मेघ मयूर मैं गरजो बरसो नाथ।
चिर प्रतीक्षित हूं खड़ा ऊपर कर के माथ॥२।

पद्मप्रभ-स्तवन

शुचिमय तन-चेतन लक्ष्मी से मंडित निज में निवस रहें।
लाल-लाल कल पलाश छवि से अहो-पद्मप्रभ ! विलस रहे॥
लोकबन्धु हो भविक-कमल ये तुम दर्शन से खिलते हैं।
जिस विध सर में सरोज दल वे दिनकर को लख खुलते हैं॥१॥

अक्षय सुख-मय लक्ष्मी वर के दिव्य भारती पाय लसे।
पूर्णमुक्ति से पूर्ण प्रभो ! तुम त्रयोदशी गुण मांय बसे॥
देव-रचित था समवसरण तव उसमें नहिं, अनुरक्त हुए।
दिव्य देशना त्याग अन्त में सर्वज्ञान युत मुक्त हुए॥२॥

नयन मनोहर किरणावलि छवि आप देह से उछल रही।
बाल भानु की द्युति सम भाती धरती छूने मचल रही॥
नर सुर से जो भरी सभा को ललित लाल अति करा रही।
पद्म राग-मय पर्वत जिस विध स्वीय-पार्श्व को विभामयी॥३॥

सहस्रदल वाले कमलों के मध्य आप चलने वाले।
चरण-कमल से नभ-तल को प्रभु पुलकित अति करने वाले॥
मत्त मदन का मद मर्दन कर निर्मद जीवन बना लिया।
विश्वशान्ति के लिए विश्व में विचरण इच्छा बिना किया॥४॥

तुम में हे ! ऋषिवर गुण-गण का लहराता वह सिन्धु महा।
इन्द्र विज्ञ तव श्रुति करके भी पी न सका वह बिन्दु अहा !!
अज्ञ, सफल क्या ? मैं हो सकता स्तुति करने जो उद्यत हूं।
वाध्य मुझे तब भक्ति कराती तुम पद में तब अवनत हूं॥५॥

दोहा

शुभ-सरल तुम, बाल तव कुटिल कृष्ण-तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से किन्तु न उसमें दाग॥१॥

विराग पद्मप्रभु आपके दोनों पाद-सराग।
रागी मम मन जा वहीं पीता तभी पराग॥२।

सुपार्श्वनाथ-स्तवन

निज आतम में चिर स्थिर बसना भविक जनों का स्वार्थ नहीं।
भांति-भांति के क्षणभंगुर सब भोग कभी ये स्वार्थ नहीं॥
तृष्णा का वह अविरल बढ़ना ताप शान्ति के हेतु नहीं।
सुपार्श्व प्रभु का कथन यही है भवसागर का सेतु सही॥१॥

जंगम चालक जभी चलाता, स्थानु यंत्र तब चल पाता।
तथा जीव से तन चल पाता, जड़मय तन की यह गाथा॥
दुखद विनाशी रुधिरमांस मय, तन है इस विध बता दिया।
जन की ममता अतः वृथा है, शिव का तुमने पता दिया॥२॥

बाह्याभ्यंतर कारण द्वारा बनी हुई कृति जो दिखती।
होनहार सो हो कर रहती रोके वह नहिं रुक सकती॥
बाहर कारण सब पाकर भी अहंकार से दुखित हुए।
सब कार्यों में विफल रहे शठ, प्रभु तुम कहते सुखित हुए॥३॥

मात्र मरण से भले भीति हो मोक्ष-धाम वह नहिं मिलता।
शिव की वांछा-भर से शिव नहिं मिलता जीवन नहिं खिलता॥
मृत्यु-भीति से काम-चोर से ठगा हुआ जड़ अज्ञानी।
वृथा व्यथा है सहता फिर भी, तुमने कह दी यह वाणी॥४॥

धर्म-रत्न की गवेषणा में निरत जनों के नायक हो।
जननी-सम जड़ जन के हित सदुपदेश के दायक हो॥
सकल विश्व के जड़ चेतन मय सकल तत्त्व के ज्ञायक हो।
इसीलिए मैं तव गुण-गण-का गीत गा रहा, गायक हो॥५॥

दोहा

अबंध भाते काट के वसु विध विधि का बंध।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभु-पना पा पाये आनन्द॥१॥

बांध-बांध विधि-बंध मैं अन्ध बना मति मन्द।
ऐसा बल दो अंध को बंधन तोडूं द्वन्द्व॥२॥

चन्द्रप्रभ-जिन-स्तवन

अपर चन्द्र हो अनुपम जग में जग मग जगमग दमक रहे।
चन्द्र-प्रभा सम नयन-मनोहर गौर वर्ण से चमक रहे॥
जीते निज के कषाय-बंधन बने तभी प्रभु जिनवर हो।
चन्द्रप्रभो ! मम नमन तुम्हें हो सुरपति नमते ऋषिवर हो॥१॥

परम ध्यानमय दीपक उर में जला आत्म को जगा दिया।
मोह-तिमिर को मानस-तल से पूर्ण-रूप से भगा दिया॥
हे प्रभु ! तव तन की श्रीछवि से बाह्य साधन तम दूर भागा।
दिनकर को लख, तम ज्यों भगता, पूरब में द्युति-पूर उगा॥२॥

पूरे भीगे कपोल जिनके मद से गज गण मद-धारे।
सिंह-गर्जना सुनते, डरते, बनते ज्यों निर्मद सारे॥
निज मत स्थिति से पूर्ण मत्त हो प्रतिवादी त्यों अभिमानी।
स्याद्वाद तव सिंहनाद सुन बनते वे पानी-पानी॥३॥

तपः साधना अद्भुत करके हित-उपदेशक आप्त हुए।
परम इष्ट पद को तुम प्रभुवर त्रिभुवन में जब प्राप्त हुए॥
अनन्त सुख के धाम बने हो विश्व-विज्ञ अविनश्वर हो।
जग-दुख-नाशक शासक के ही शासक तारक ईश्वर हो॥४॥

भगवान तुम शशि, भव्य कुमुद ये खिलते हैं दृग खोल रहे।
राग-रोष मय मेघ तुम्हारे चेतन में नहिं डोल रहे॥
स्याद्वाद मय विशद वचन की मणिमय माला पहने हो।
परमपूत हो, पावन कर दो, मम मन, वश में रहने दो॥५॥

दोहा

चंद्र कलंकित, किन्तु हो चन्द्र प्रभु अकलंक।
वह तो शंकित केतु से शंकर तुम निःशंक॥१॥

रंक बना हूं मम अतः मेटो मन का पंक।
जाप जपूं जिन-नाम का बैठ सदा पर्यंक॥२॥

पुष्पदंत-स्तवन

विरोध एकान्ती का करता तर्कादिक से सिद्ध सही।
तदतत्-स्वभाव धारक ग.नी मुख्य-गौण हो कहीं-कहीं॥
सुविधि नाथ प्रभु आत्मज्योति से तत्त्व प्ररूपित सही किया।
तुम मत से विपरीत मतों ने जिसका स्वाद न कभी लिया॥१॥

स्वभाव-वश औ अन्यभाव-वश तत्त्व रहा वह नहीं रहा।
क्योंकि कथंचित् उसी तरह ही प्रतीत होता सही रहा॥
निषेध-विधि में कभी सर्वथा अनन्यपन या अन्यपना।
होते नहिं हैं जिन मत गाता तत्त्व अन्यथा शून्य बना॥२॥

वही रहा यह प्रतीत इसविध तत्त्व अतः यह नित्य रहा।
अन्य रूप हो झलक रहा है इसीलिए नहिं नित्य रहा॥
बाहर-भीतर के कारण औ कार्य-योग वश, तत्त्व वही।
नित्यानित्यात्मक संगत है तव मत का यह सत्त्व सही॥३॥

एक द्रव्य वश अनेक गुण वश वाच्य रहा वह वाचक का।
'वन है तरु हैं' इस विध कहते भाव विदित ज्यों गायक का॥
सर्व धर्म के कथन चाहते गौणपक्ष पर नहिं माने।
एकान्ती मत कहते उनको स्याद्-पद दुखकर, बुध जाने॥४॥

गौण-मुख्य मय अर्थ-युक्त तव दिव्य वाक्य है सुख-कारी।
यदपि तदपि तुम मत से चिढ़ते उनको निश्चित दुखकारी॥
साधु राज हे चरण-कमल तव सुर-नर-पति से वंदित हैं।
अतः मुझे भी वन्दनीय हैं सुरभित-सौम्य-सुगंधित हैं॥५॥

दोहा

सुविध ! सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मंजूर॥१॥

बाल मात्र भी ज्ञान ना मुझ में मैं मुनि-बाल।
बबाल भव का मम मिटे प्रभु पद में मम भाल॥२॥

शीतलनाथ-स्तवन

ना तो मलयाचल चंदन औ चन्द्र चान्दनी शीतल है।
शीतल गंगा का भी जल नहिं मणिमय माला शीतल है ॥
हे मुनिवर तव वचन-किरण में प्रशम भाव-मय नीर भरा।
शीतलतम है, बुधजन जिसका सेवन करते पीर हरा ॥१॥

विषय-सौख्य की चाह-दाह से क्लान्त किया था तप्त किया।
निज के मन को ज्ञान-नीर से शान्त किया तुम तृप्त किया ॥
वैद्य-राज ज्यों मंत्रशक्ति से जहर शक्ति को हरता है।
जहर-दाह से मूर्च्छित निज के तन को सुशान्त करता है ॥२॥

जीवन की औ काम सौख्य की तृष्णा के जो नौकर हैं।
जड़ जन दिन-भर श्रम कर थक कर रात विताते सो कर हैं ॥
शुचि-तम निज आतम में तुम तो निशि-दिन निश्चल जाग रहे।
यही आर्य ! अनिवार्य कार्य तव, प्रमाद रिपु-सम त्याग रहे ॥३॥

सुर-सुख की, सुत-धन की, धन की तृष्णा जिनके मन में है।
ऐसे ही कुछ जड़ जन, तापस, बन तप तपते वन में हैं ॥
किन्तु, जनन-मृति-जरा मिटाने समधी बन यम धार लिया।
मन वच तन की क्रिया मिटा दी, तुमने भव-दधि पार किया ॥४॥

धवलित केवलज्ञान-ज्योति हो जन्म-रहित दुख सर्व हरें।
आप कहां ये अन्य कहां जड़ अल्प ज्ञान ले गर्व करें ॥
शिव-सुख के अभिलाषी वुद्धजन अतः सदा तव गुण गाते।
शीतल प्रभु मुझ शीतल कर दो तुम्हें भजे मम मन तातें ॥५॥

दोहा

शीतल चन्दन है नहीं शीतल हिम ना नीर।
शीतल जिन ! तव मत रहा शीतल, हरता पीर ॥१॥

सुचिर काल से मैं रहा मोह-नींद से सुप्त।
मुझे जगा कर, कर कृपा प्रभो करो परितृप्त ॥२॥

श्रेयोनाथ-स्तवन

दोष-रहित, शुभ वचन सुधारों श्रेयन् ! जिन ! अघ गला दिया।
हित पथ दर्शित कर हित पथ पर हितैषियों को चला दिया ॥
एक अकेले विलसित हो तुम त्रिभुवन में ज्यों उदित हुआ।
मेघ-रहित इस विशाल नभ में रवि लसता, जग मुदित हुआ ॥१॥

अस्तिपना जो नास्तिपना मय प्रमाण का वह विषय बना।
अस्ति-नास्तिपन में इक होता गौण एक तो प्रमुख बना ॥
प्रमुख बना या, जिसको उसके नियमन का नय हेतु रहा।
दृष्टान्तन का रहा समर्थक जिन दर्शन का केतु रहा ॥२॥

प्रासंगिक जो मुख्य कहाता तव मत कहता पुण्य मही।
प्रासंगिक जो नहीं रहा सो गौण भले पर शून्य नहीं ॥
मित्र कथंचित् शत्रुमित्र हो किसी अपेक्षा अनुभय हो।
सगुण गुणी अस्तिनास्ति वश वस्तु कार्य में सक्रिय हो ॥३॥

समुचित है दृष्टान्त जभी से लोक सिद्ध वह मिल जाता।
वादी-प्रतिवादी का झगड़ा स्वयं शीघ्र तव मिट जाता ॥
मतैकान्त का पोषक तव मत में मिलता दृष्टान्त नहीं।
साध्य-हेतु दृष्टान्तन में मत चूंकि श्रेष्ठ नैकान्त सही ॥४॥

स्याद्-वाद मय रामबाण से रगरग जिसको छेद दिया।
एकान्ती मत का मस्तक प्रभु पूर्ण रूप से भेद दिया ॥
लाभ लिया कैवल्य विभव का मोह-शत्रु का नाश किया।
अतः बने अरहन्त तभी मम मन तुम पद में वास किया ॥५॥

दोहा

अनेकान्त की कान्ति से हटा तिमिर एकान्त।
नितान्त हर्षित कर दिया क्लान्त विश्व को शान्त ॥१॥

निश्रेयस् सुख-धाम हो हे जिन वर श्रेयांस।
तव थुति अविरल मैं करूं जब लौं घट में श्वास ॥२॥

वासुपूज्यनाथ-स्तवन

मंगल कारक गर्भ जन्म मय कल्याणों में पूज्य हुए।
वासुपूज्य प्रभु शत इन्द्रों से तुम पद-पंकज पूज्य हुए॥
हे मुनि-नायक लघु धी मैं हूं मेरे भी अब पूज्य बनें।
पूजा क्या नहिं दीपक से हो रवि की जो द्युति-पुंज तनें॥१॥

वीतराग जिन बने तुम्हें अब पूजन से क्या अर्थ रहा?
बैरी कोई रहे न तब फिर निंदक भी अब व्यर्थ रहा॥
फिर भी तव गुण-गण-स्मृति से प्रभु परम लाभ है वह मिलता।
निर्मलतम जीवन है बनता मम मन-मल सब यह धुलता॥२॥

पूजन पूजक पूज्य प्रभो! जिन तव जब करता भव्य यहां।
अल्प पाप तब पाता फिर भी पाता पावन मुख्य महा॥
किन्तु पाप वह ताप नहीं है घटना-भर अनिवार्य रही।
सुधा-सिन्धु में विष-कण करता बाधक का कब कार्य कहीं?॥३॥

उपादानमय मूल हेतु का बाह्य द्रव्य ले सहकारी।
श्रावग जब तब पूजन करता पाप-पुण्य का अधिकारी॥
किन्तु साधु जब पूजन करते संग-रहित ही जो रहते।
पुण्य-पाप में भाव शुभाशुभ केवल कारण, जिन कहते॥४॥

बाह्याभ्यन्तर हेतु परस्पर यथायोग्य ये मिले सही।
तभी कार्य सब जग के बनते द्रव्य धर्म बस दिखे यही॥
मोक्ष कार्य में यही व्यवस्था पर इससे विपरीत नहीं।
अतः वन्द्य तुम बुध जन से ऋषि-पति हो, कहता गीत सही॥५॥

दोहा

वसुविध मंगल द्रव्य ले जिन पूजो सागार।
पाप-घटे फलतः फले पावन पुण्य अपार॥१॥

बिना द्रव्य शुचि भाव से जिन पूजों मुनि लोग।
बन निज शुभ उपयोग के शुद्ध न हो उपयोग॥२॥

विमलनाथ-स्तवन

तत्त्व नित्य या क्षणिक सर्वथा इत्यादिक जो नय गाते।
कलह परस्पर करते मरते सभी परस्पर भय खाते॥
विमल नाथ प्रभु अनेकान्तमय तुम-मत के जो नय मिलते।
बने परस्पर पूरक, हिल-मिल सभी कथंचित् पथ चलते॥१॥

निजी सहायक शेष कारकों को अपेक्षित करते हैं।
एक-एक कर जिस विध कारक कार्य सिद्ध सब करते हैं॥
समानता को विशेषता को लखते हैं क्रमवार भले।
उस विध तव नय गौण-मुख्य हो वक्ता के अनुसार चले॥२॥

ज्ञानमयी हो स्व-पर प्रकाशक प्रमाण जिस विध निश्चित है।
जैनागम में निराबाध वह स्वीकृत है औ समुचित है॥
अभेद-मय औ भेद-ज्ञान में सदा मित्रता शुद्ध रही।
समानता और विशेषता की समष्टि जिन से सिद्ध रही॥३॥

किसी वस्तु की विशेषता का, कथक विशेषण होता है।
विशेषता जिसकी की जाती विशेष्य बस वह होता है॥
किन्तु विशेषण विशेष्य इनमें नित्य निहित सामान्य रहा।
स्यात् पद-वश प्रासंगिक होता मुख्य-गौण तब अन्य रहा॥४॥

स्यात् पद भूषित तव नय बनते सुर सुख शिव सुख-दाता हैं।
जिस विध पारस योग प्राप्त कर लोह स्वर्ण बन भाता है॥
अतः हितैषी सविनय होते तव पद में प्रणिपात रहें।
परम पुण्य का फलतः बुधजन लाभ लुटा दिन-रात रहें॥५॥

दोहा

कराल काला व्याल सम कुटिल चाल का काल।
मार दिया तुमने उसे फाड़ा उसका गाल॥१॥

मोह-अमल वश समल बन निर्बल मैं भयवान।
विमलनाथ तुम अमल हो, संबल दो भगवान॥२॥

अनन्तनाथ-स्तवन

चिर से जीवित तुम उर में था मोह-भूत जो पाप-मयी।
अमित-दोष का कोष रहा था जिसका तन परिताप मयी ॥
उसे जीत कर बने विजेता आत्म तत्त्व के रसिक हुए।
अतः नाम तव अनन्त सार्थक, तव सेवक हम भविक हुए ॥१॥

समाधि-मय गुणकारी औषध, का तुमने अनुपान किया।
दुर्निवार संतापक दाहक काम रोग का प्राण लिया ॥
रिपु-सम दुःखद कषाय-दल का और पूर्णतः नाश किया।
पूर्णज्ञान पर परमजोति से त्रिभुवन को परकाश दिया ॥२॥

भरी लबालब श्रम के जल से भय-भय लहरें उपजाती।
विषय-वासना-सरिता तुममें चिर से बहती थी माती ॥
उसे सुखा दी अपरिग्रहमय तरुण अरुण की किरणों से।
मुक्ति-वधू वह हुई प्रभावित इसीलिए तब चरणों से ॥३॥

भक्त बना तव निरत भक्ति में भुक्ति मुक्ति सुख वह पाता।
तुम से जो चिढ़ता वह निश्चित प्रत्यय-सम मिट दुख पाता ॥
फिर भी निन्दक वंदक तुम को सम है समता-धाम बने।
तव परिणति प्रभु विचित्र कितनी निज रस में अविराम सने ॥४॥

तुम ऐसे हो तुम वैसे हो मम-लघु धी का कुछ कहना।
केवल प्रलाप-भर है मुनिवर! भक्ति-भाव में बस बहना ॥
तव महिमा का पार नहीं पर अल्प मात्र भी तारण है।
अमृत-सिन्धु का स्पर्श तुल्य बस शान्ति सौख्य का कारण है ॥५॥

दोहा

अनन्त गुण पा कर दिया अनन्त भव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव अनन्त जिन जयवन्त ॥१॥

अनन्त सुख पाने सदा भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें स्मरूं स्मरें सब सन्त ॥२॥

धर्मनाथ-स्तवन

वीतराग-मय धर्मतीर्थ को किया प्रसारित त्रिभुवन में।
धर्म नाम तव सार्थक कहते गणधर गुरु जो मुनिगण में॥
सघन कर्म के वन को तपमय तेज अनल से जला दिया।
शंकर बन कर सुखकर शिव-सुख पाकर जग को जगा दिया॥१॥

भद्र भव्य सुर-नरपति गण नत तुम पद में अति मोहित है।
मुनिगण-नायक गणधर से प्रभु आप घिरे हैं, शोभित हैं॥
जैसा नभ में पूर्ण कला ले शान्त चन्द्रमा निखरा हो।
जिसके चारों ओर विहसता तारक-दल भी बिखरा हो॥२॥

छत्रादिक से सजा हुआ जिस समवशरण में निवस रहे।
विरत किन्तु निज तन से भी हो निरीह सब से विलस रहे॥
नर, सुर, किन्नर भव्य जनों को शिव-पथ दर्शित करा रहे।
प्रति-फल की कुछ वांछा नहिं पर हमको हर्षित करा रहे॥३॥

तन की मन की और वचन की चेष्टाएं तव होती हैं।
किन्तु बिना इच्छा के केवल सहज भाव से होती हैं॥
थोथी यद्वा-तद्वा भी नहिं सही ज्ञान से सहित सभी।
धीर! नीर-निधि-सम तव परिणति, अचिंत्य-लख बुध,
चकित सभी॥४॥

मानवता से ऊपर उठ कर ऊपर उन्नत चढ़े हुए।
सुर, सुर-पालक देवों में भी पूज्य हुए हो बढ़े हुए॥
इसीलिए देवाधिदेव हो परम इष्ट जिन! नाथ हुए।
हम पर करुणा कर दो शिव-सुख, तुम पद में नत-माथ हुए॥५॥

दोहा

दया धर्म वर धर्म है अदया-भाव अधर्म।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने समझाया पुनि धर्म॥१॥

धर्मनाथ को नित नमूं सधे शीघ्र शिव शर्म।
धर्म-मर्म को लख सकूं मिटे मलिन मम कर्म॥२॥

शान्तिनाथ-स्तवन

प्रजा सुरक्षित कर रिपुओं से निजी राज्य अविभाज्य किया।
सुचिर काल तक प्रतापशाली अजेय राजा राज्य किया॥
स्वयं आप पुनि मुनि बन वन में पापों का अतिशमन किया।
शान्तिनाथ जिन ! दया-धाम हो शान्ति-रमा से रमण किया॥१॥

पुण्य-पुरुष चक्री बन तुमने चक्र दिखा कर डरा दिये।
छहों खण्ड के नराधिपों को पूर्ण रूप से हरा दिये॥
समाधि-मय निज दिव्य चक्र पुनि मोह शत्रु पे चला दिया।
दुर्नय-दुर्जय दुष्ट क्रूर को मिट्टी में बस मिला दिया॥२॥

राजाओं-के-राज बन कर राजसभा में राजित थे।
लघु राजाओं के सुख-साधन तुम पर ही निर्धारित थे॥
किन्तु पुनः जब निजाधीन हो आर्हत पद को प्राप्त हुए।
अगणित अमरासुर पतिगण में हुए सुशोभित, आप्त हुए॥३॥

नरेन्द्र जब थे, नरपति-दल ने तब चरणों में शरण लिया।
सदय बने जब मुनिवर तुम को दया-धर्म ने नमन किया॥
पूज्य बने जिन तव पद युग में सुरदल आ प्रणिपात हुआ।
ध्यानी बनते, कर्म विनसता, हाथ जोड़, नत-माथ हुआ॥४॥

निजी दोष सब पूर्ण मिटा कर, प्रथम प्रशम बन शान्त हुए।
शान्ति दिलाते शरणागत को, सुचिर काल से क्लान्त हुए॥
शान्तिनाथ जिन ! शांति विधायक, शान्त मुझे अब आप करो।
शरण, चरण में मुझे दिला कर भव-भव का मम ताप हरो॥५॥

दोहा

शान्तिनाथ हो शान्त, कर सातासाता सान्त।
केवल, केवल-ज्योतिमय क्लान्ति मिटी सब ध्वान्त॥१॥

सकल ज्ञान से सकल को जान रहे जगदीश।
विकल रहे जड़ देह से विमल नमूं नतशीश॥२॥

कुन्थुनाथ-स्तवन

चक्री बन शासित नरपों को प्रथम किया यश सुख पाने।
तीर्थंकर बन धर्म-चक्र, फिर चला दिया निज-घर जाने ॥
जरा जनन मृति रोग मिटाने सदय स्वजीवन बना लिया।
कुन्थु कृमि आदिक जीवों पर, कुन्थु जिनेश्वर दया किया ॥१॥

स्वभाव से ही तृष्णा-ज्वाला सदा धधकती वह जलती।
भोग्य वस्तुएं भले भोग लो तृष्णा बुझती नहिं बढ़ती ॥
विषय-सौख्य तो निमित्त केवल, हर सकते ! तन-ताप भले।
विमुख हुए हैं अतः विषय से, मुनि बन, शिव-पथ आप चले ॥२॥

कष्ट-साध्य बहु बाह्य तपों से तन को मन को जला दिया।
आभ्यंतर तप उद्दीपित हो यही प्रयोजन बना लिया ॥
आर्त ध्यान को, रौद्र ध्यान को, पूर्ण ध्यान से हटा दिया।
धर्म ध्यान में, शुक्ल ध्यान में, क्रमशः निज को बिठा दिया ॥३॥

रत्नत्रयी मय होम-कुण्ड को योग अनल से तेज किया।
होमा जिसमें घाति कर्म को यम-पुर रिपु को भेज दिया ॥
अतुल वीर्य पा सकल ज्ञेय के प्रतिपादक आगम-कर्ता।
विलस रहे प्रभु मेघ-रहित नभ में जिस विध रवि तम-हर्ता ॥४॥

विद्या-धन का विधान दुर्लभ मुनिवर ! तुम में अहा खुला।
ब्रह्मा महेश आदिक को पर जिसका कण भी कहां मिला ॥
अमिट-अमित हो स्तुत्य बने हो जन्म-रहित जिन-देव ! तभी।
निज हित-इच्छुक अतः सुधी ये तुम्हें भजें स्वयमेव सभी ॥५॥

दोहा

ध्यान-अग्नि से नष्ट कर प्रथम पाप परिताप।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से बने न अपने-आप ॥१॥

ऐसी मुझ पे हो कृपा मम मन मुझमें आय।
जिस विध पल में लवण है जल में घुल मिल जाय ॥२॥

अरहनाथ-स्तवन

किसी पुरुष के अल्प गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर यश गाना।
जग में बुधजन कविजन कहते स्तुति का वह है बस बाना॥
पूज्य बने हो ईश बने हो अगणित गुण के धाम बने।
ऐसी स्थिति में आप कहो फिर कैसे स्तुति का काम बने॥१॥

यदपि मुनीश्वर की स्तुति करना रवि को दीपक दिखलाना।
तदपि भक्ति-वश मचल रहा मन कुछ कहने को अनजाना॥
तथा अल्प भी जो तव यश का भविक कहां गुण-गान करें।
शुचितम बनता, क्यों ना हम फिर तव थति-रस का पान करें॥२॥

चौदह मनियां निधियां नव भी चक्री तुम थे तुम्हें मिली।
हाथी छोड़े कोटि, नारियां कुछ कम लाखों तुम्हें वरी॥
मुमुक्षुपन की किन्तु किरण जो तुम में जगमग जभी जगी।
सार्वभौम पदवी भी तुमको जीरण तृण सम सभी लगी॥३॥

सविनय द्वय नयनों से तव मुख छवि को जब अनिमेष लखा।
किन्तु तृप्त वह हुआ नहीं पर लख-लख कर अमरेश थका॥
सहस्र लोचन खोल लिए फिर निजी ऋद्धि से काम लिया।
चकित हुआ तब अंग-अंग का प्रभु दर्शन अभिराम किया॥४॥

मोहरूप रिपु-भूप, पाप-का-बाप, ताप का कारक है।
कषाय-मय सेना का चालक, चेतय निधि का हारक है॥
समकित-चारित-भेदज्ञान मय कर में खर तर-बार लिया।
किया वार निज मोह-शत्रु पर धीर आपने, मार दिया॥५॥

तीन लोक को अपने बल पर जीत विजेता बना हुआ।
काम समक्ष यों लोक ईश मैं व्यर्थ गर्व से तना हुआ॥
धीर वीर जिन किन्तु आप पर प्रभाव उसका नहीं पड़ा।
लज्जित होकर शिशु-सा आकर तब चरणों में तभी पड़ा॥६॥

इस भव में भी पर भव में भी दुस्सह दुख की है जननी।
तृष्णा-रूपी नदी भयंकर यह नरकों की वैतरणी॥
इसका पाना पार कठिन है कई तैरते हार गये।
वीतराग-मय ज्ञान-नाव में बैठ किन्तु प्रभु पार गये॥७॥

सदा काल से काल जगत को रुला रहा था सता रहा।
जन्म-रोग को मित्र बना कर जीवन अपना बिता रहा॥
महाकाल विकराल किन्तु प्रभु काल आपने विकल किया।
कुटिल चाल को छोड़ काल ने सरल चाल में बदल दिया॥८॥

शस्त्रों, वस्त्रों, पुत्र, कलत्रों, आभरणों से रहित रहा।
विराग विद्या दया दमन से पूर्ण रूप से सहित रहा॥
इस विध जो तव रूप मनोहर मौन रूप से बोल रहा।
धीर! रहित हो सकल दोष से तव जीवन अनमोल रहा॥९॥

तव तन की अति प्रखर ज्योतिमा फैल रही चहुं ओर सही।
फलतः बाहिर सघन तिमिर सब भगा, हुआ हो भोर कहीं॥
इसी तरह निज शुद्धातम के परम विभा से नाश किया।
मोह-मयी अतिघनी निशा का, निज-घर शिव में वास किया॥१०॥

सकल विश्व का जानन हारा तुममें केवलज्ञान हुआ।
समवशरण आदिक अनुपम तन अतिशय आविर्मान हुआ॥
पुण्य-पाक मय इस अतिशय को भविक जनों ने निरखा हो।
तव पद में नत क्यों ना होवे दोष गुणन को परखा हो॥११॥

जिसकी भाषा, उस भाषा में उसको समझाती वाणी।
अमृतमयी है जिनवाणी है ज्ञानी कहते कल्याणी॥
समवशरण में फैल सभी के कर्ण तृप्त भी है करती।
सुधा जगत में जिस विध, जन-जन को सुख दे सब दुख हरती॥१२॥

अनेकान्त तव दृष्टि रही है सत्य तथ्य बुध-मीत रही।
तथ्य-हीन एकान्त दृष्टि है औरों की विपरीत रही॥
एकान्ती का जो कुछ कहना असत्य भी है उचित नहीं।
और रहा निज मत का घातक इसीलिए वह मुदित नहीं॥१३॥

पर मत की कमियों को लखने नेत्र खोलकर जाग रहे।
निज-कमियां लख भी नहिं लखते जैसे सोते नाग (हाथी) रहे॥
निज मत थापित पर मत बाधित करने में भी निर्बल है।
तापस वे नहिं समझ सकेंगे तव मत जो अति निर्मल है॥१४॥

एकान्ती जन दोष-बीज हो सदा निरन्तर बोते हैं।
निज मत घातक दोष मिटने सक्षम नहिं वे होते हैं॥
अनेकान्त तव मत से चिढ़ते आत्महनक हैं बने हुए।
अवक्तव्य ही 'तत्त्व सर्वथा' जड़ जन कहते तने हुए॥१५॥

अवक्तव्य वक्तव्य नित्य या अनित्य ही यह वस्तु रही।
सदसत् या है एक रही या अनेक अथवा वस्तु रही॥
कहें सर्वथा यों नय करते वस्तु-तत्त्व को दूषित हैं।
पोषित करते, किन्तु आपके स्याद् पद से नय भूषित हैं॥१६॥

प्रमाण द्वारा ज्ञात विषय की सदा अपेक्षा रखता है।
किन्तु 'सर्वथा नियम' रखे बिन वस्तु-भाव को चखता है॥
ऐसा स्याद् पद पर मत का नहिं तव मत का शृंगार रहा।
अतः 'सर्वथा पद' ही परमत निजमत को संहार रहा॥१७॥

प्रमाण नय साधन से साधित अनेकान्त-मय तव मत में।
अनेकान्त भी अनेकान्त है जिसका सेवक अवनत मैं॥
पूर्ण वस्तु को विषय बनाते प्रमाण-वश नैकान्त बने।
वस्तु-धर्म हो एक विवक्षित, नय-वश तब एकान्त तने॥१८॥

निराबाध औ निरुपम शासन के शासक गुण-धारक हो।
सुखद-योग-गुण-पालन का पथ दिखलाते अघ मारक हो॥
इन्द्रिय-विजयी धर्म-तीर्थ के हे अर जिन तुम नायक हो।
तुम बिन, भविजन हितपथ दर्शक, अन्य कौन ? सुखदायक हो॥१९॥

आगम का भी अल्प ज्ञान है पूर्ण ज्ञान वह मिला नहीं।
मंद बुद्धि मम, विशद नहीं है भक्ति-भाव-भर मिला यहीं॥
मानस आगम-बल से फिर भी जो कुछ तव गुणगान किया।
पाप-शमन का हेतु बनेगा वरद ! यही अनुमान लिया॥२०॥

दोहा

नाम-मात्र भी नहिं रखो नाम-काम से काम।
ललाम आतम में करो विराम आठों याम॥१॥
नाम धरो 'अर' नाम तव अतः स्मरूं अविराम।
अनाम बन शिव-धाम में काम बनूं कृत-काम॥२॥

मल्लिनाथ-स्तवन

बने महा ऋषि जब तुम, तुममें सुसुप्त जागृत योग हुआ।
लोकालोकालोकित करता अतुलनीय आलोक हुआ॥
इसीलिए बस सादर आकर अमराकर नर-जगत सभी।
जोड़ करों को हुआ प्रणत तव, पद में हूं मुनि जगत अभी॥१॥

तव तन आभा तप्त स्वर्ण-सी तन की चारों ओर सही।
परिमण्डल की रचना करती यह शोभा नहि और कहीं॥
वस्तु-तत्त्व को कहने आतुर स्याद्-पद वाली तव वाणी।
दोनों मुनिजन को हर्षाती जिनकी शरणा सुखदानी॥२॥

मन मानी तज प्रतिवादी जन तव सम्मुख हो गतमानी।
वाद करे ना कुतर्क करते जब प्रभु पूरण हो ज्ञानी॥
तथा आपके शुभ दर्शन से हरी-भरी हो भी लसती।
खिली कमलिनी मृदुतम-सी यह धरा सुन्दरा भी हसती॥३॥

शान्त कान्ति से शोभा रहे हैं पूर्ण चन्द्रमा जिनवर हैं।
शिष्य-साधु चहुं-ओर घिरे हैं गृह-बन गणधर मुनिवर हैं॥
तीर्थ आप का ताप मिटाता अनुपम सुख का हेतु रहा।
दुखित भव्य भव पार कर सके भव-सागर का सेतु रहा॥४॥

शुक्ल ध्यान मय तपश्चरण के दीप्त अनल से जला जला।
राख किया कटु पाप कर्म को तभी तुम्हें शिव किला मिला॥
शल्य-रहित कृत-कृत्य बने हो मल्लिनाथ जिन पुंगव हो।
चरणों में दो शरण मुझे अब भव-भव पुनि ना संभव हो॥५॥

दोहा

मोह मल्ल को मार कर मल्लिनाथ जिनदेव।
अक्षय बनकर पा लिए अक्षय सुख स्वयमेव॥१॥

बाल ब्रह्मचारी विभो बाल समान विराग।
किसी वस्तु से राग ना मम तव पद से राग॥२॥

मुनिसुव्रतनाथ-स्तवन

मुनि बन मुनि-पथ चलते मुनिपन में दृढ़ हो मुनिनाथ हुए।
मुनिसुव्रत प्रभु पाप-रहित हो निज में रत दिन-रात हुए॥
मुनियों की उस भरी सभा में अनुपम द्युति से शोभ रहे।
तारक गण के ठीक बीच ज्यों शोभित शीतल सोम रहे॥१॥

द्वादश विध खर तप कर तुमने देह-मोह सब भुला दिया।
काम रोग को अहंकार को पूर्ण रूप से जला दिया॥
मोर-कण्ठ-सम सघन नीलिमा फलतः तव तन में फूटी।
पूर्णचन्द्र के परितः फैली मण्डल-द्युति पड़ती झूठी॥२॥

चन्द्र-चांदनी-सम धवलित शुचि रुधिर भरा है तव तन में।
परम सुगंधित निर्मल तन है ऐसा तन ना त्रिभुवन में॥
केवल सुख-कर नहीं किन्तु तव तन मन वच की परिणतियां।
विस्मय जग को सदा करातीं जिन से मिटती चहुं गतियां॥३॥

युगों-युगों से जड़-चेतन ये जग के पदार्थ सारे हैं।
ध्रौव्य-जनन-मय तथा नाशमय लक्षण यथार्थ धारे हैं॥
इस विध तव वाणी यह कहती, सकल विश्व के ज्ञायक हैं।
शिव पथ शासन कर्त्ताओं में कुशल आप ही शासक हैं॥४॥

निरुपम चौथे शुक्ल ध्यान मय संबल निज में जगा लिया।
अष्टकर्म-मल पाप-किट्ट को जला-जला कर मिटा दिया॥
भवातीत उस मोक्ष-सौख्य का लाभ आपने उठा लिया।
करो नाश अब मम भव का भी, मन में तव पद बिठा लिया॥५॥

दोहा

मुनि बन मुनिपन में निरत हो मुनि यति बिन स्वार्थ।
मुनिव्रत का उपदेश दे हमको किया कृतार्थ॥१॥

यही भावना मम रही मुनिव्रत पाल यथार्थ।
मैं भी मुनिसुव्रत बनूं पावन पाय पदार्थ॥२॥

नमिनाथ-स्तवन

स्तुत्य रहे या नहीं रहे, फल उसे मिले या नहीं मिले।
स्तुति जड़ करता सज्जन मन में पुण्य-भाव की कली खिले ।।
निजाधीन औ सुलभ मोक्षपथ जग में इस विध बनता हो।
पूज्य ईश नमि जिन फिर क्यों ना तव थुति रत बुध जनता हो ।।१।।

परम ब्रह्म रत हो तोड़ा भव-बंधन प्रभु कृत-काम बने।
इसीलिए जिन सुधीजनों के बोध-धाम शिव-धाम बने ।।
ज्ञान-जोति अति प्रखर किरण ले उदित हुई फलतः तुम में।
पर-मत जुजुनू सम कुंदित हैं तेज उदित हो रवि नभ में ।।२।।

अस्ति नास्ति औ उभय रूप भी अवक्तव्य भी तत्त्व रहा।
अवक्तव्य भी तीन रूप यों सप्त भंगमय तत्त्व रहा ।।
आपस में आपेक्षित बहुविध धर्मों से जो भरित रहा।
गौण-मुख्य कर बहुनय-वश वह लोक ईश से कथित रहा ।।३।।

अणु-भर भी यदि षडारम्भ हो वहां दया यह नहीं रहे।
जीवन-दया सो परम-ब्रह्म है जग में बुधजन यही कहें ।।
अतः दया की प्राप्ति हेतु प्रभु करुण भाव से दूर रहें।
उभय संग तज बनो दिगंबर विकृत वेष से दूर रहें ।।४।।

भूषण वसनादिक से रीता नग्न काय तव यों गाता।
जीता तुमने काम-बली को जित इन्द्रिय हो हो धाता ।।
तीक्ष्ण शस्त्र बिन निज उर में थित उदर क्रोध का नाश किया।
निर्मोही हो अतः शरण दो शान्ति-सदन में वास किया ।।५।।

दोहा

अनेकान्त का दास हो अनेकान्त की सेव।
करूं गहूं मैं शीघ्र से अनेक गुण स्वयमेव ।।१।।

अनाथ मैं जगनाथ हो नमीनाथ दो साथ।
तव पद में दिन-रात हूं हाथ जोड़ नत-माथ ।।२।।

नेमिनाथ-स्तवन

ऋद्धि-सिद्धि के धारक, ऋषि हो, प्राप्त किया है निज धन को।
शुक्ल ध्यान मय तेज अनल से जला दिया विधि-इंधन को॥
खिले-खुले तव नील कमल-सम, युगल-सुलोचन विलसित हैं।
सकल ज्ञान से सकल निरखते भगवन् जब में विलसित हैं॥१॥

विनय-दमादिक पाप-रहित-पथ के दर्शक तीर्थंकर हो।
लोक-तिलक हरिवंश मुकुट हो, संकट के प्रलयंकर हो॥
हुए शील के अपार सागर, भवसगार से पार हुए।
अजरामर हो अरिष्ट नेमी जिनवर! जग में सार हुए॥२॥

झिलमिल-झिलमिल मणियों से जो जड़ित मुकुट को चढ़ा रहे।
तव चरणों में अवनत सुरपति और मंजुता बढ़ा रहे॥
कोमल-कोमल लाल-लाल तव युगल पाद-तल विमल लसे।
तालाबों में खुले-खिले-ज्यों लाल दलों से कमल लसे॥३॥

शरद-काल के पूर्ण चन्द्र की शुभ्र चांदनी-सी लसती।
पूज्य-पाद की नखावली ये जिनमें जा मम मति बसती॥
थुति करते नित तव पद में नत प्रभु दर्शन की आस लगी।
बुध-ऋषि, जिन को निज आतम सुख की चिर से अतिप्यास लगी॥४॥

तेज-भानु-सा चक्र-रत्न से जिनके कंधे शोभित हैं।
घिरे हुए हैं स्वजन बंधुओं से जो पर में मोहित हैं॥
सघन-मेघ-सम नील वर्ण का जिन का तन जगनामी है।
भ्रात चचेरे कृष्ण-राज तव तीन खण्ड के स्वामी है॥५॥

स्वजन-भक्ति से मुदित रहे हैं जन-जन के जो सुखकर हैं।
धर्म-रसिक हैं विनय-रसिक हैं इस विध चक्री हलधर हैं॥
भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नेमिनाथ तव! चरणन में।
दोनों आकर बार-बार नत होते हर्षित तन-मन में॥६॥ (युग्म)

सौराष्ट्रन में, वृषभ-कंध-सम उन्नत पर्वत अमर रहें।
खेचर महिलाओं से सेवित जिसके शोभित शिखर रहें॥
बादल-दल-से जिसके तट भी सदा घिरे ही रहते हैं।
जहां इन्द्र ने तव गुण लक्षण लिखे, जिन्हें बुध कहते हैं॥७॥

तव गुण लक्षण धारण करता अतः तीर्थ वह महा बना।
ऊर्जयन्त फिर ख्यात हुआ है पुराण कहते महामना॥
सुचिर काल से आज अभी भी जिसका वन्दन करते हैं।
ऋषि-गण भी अति प्रसन्न होते सफल स्वजीवन करते हैं॥८॥

बाहर से भी भीतर से भी ना तो साधक बाधक हो।
इन्द्रिय गण हो यद्यपि तुममें तदपि मात्र प्रभुज्ञायक हो॥
एक साथ जिननाथ, हाथ की रेखा सम सब त्रिभुवन को।
जान रहे हो देख रहे हो विगत-अनागत कण-कण को॥९॥

इसीलिए यति मुनिगण से प्रभु-पद युग-पूजित सुखदाता।
अद्भुत से अद्भुत तम आगम-संगत चारित तव साता॥
इस विध तव अतिशय का चिन्तन करके मन में मुदित हुआ।
जिन-पद में अति निरत हुआ हूं आज भाग्य शुभ उदित हुआ॥१०॥

दोहा

नील गगन में अधर हो शोभित निज में लीन।
नील कमल आसीन हो नीलम से अति नील॥१॥

शील-झील में तैरते नेमि जिनेश सलील।
शील डोर मुझ बांध दो डोर करो मत ढील॥२॥

पार्श्वनाथ-स्तवन

जल वर्षाते घने बादले काले-काले डोल रहे।
झंझा चलती बिजली तड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे।।
पूर्व वैर-वश कमठ देव हो इस विध तुमको कष्ट दिया।
किन्तु ध्यान में अविचल प्रभु हो घाति कर्म को नष्ट किया।।१।।

द्युति-मय बिजली-सम पोला निज फण का मण्डप बना लिया।
नाग इन्द्र तव कष्ट मिटाने तुम पर समुचित तना दिया।।
दृश्य मनोहर तब वह ऐसा विस्मय-कारी एक बना।
संध्या में पर्वत को ढकता समेत-बिजली मेघ घना।।२।।

आत्म ध्यान-मय कर में खर तर खंग आपने धार लिया।
मोहरूप निज दुर्जय रिपु को पल-भर में बस मार दिया।।
अचिन्त्य-अद्भुत आर्हंत पद को फलतः पाया अघहारी।
तीन लोक में पूजनीय जो अतिशयकारी अतिभारी।।३।।

मनमाने कुछ तापस ऐसे तप करते थे वनवासी।
पाप-रहित तुम को लख, इच्छुक तुम-सम बनने अविनाशी।।
हम सब का श्रम विफल रहा यों समझ सभी वे विकल हुए।
शम-यम-दम मय सदुपदेश सुन तव चरणन में सफल हुए।।४।।

समीचीन विद्या-तप के प्रभु रहे प्रणेता वरदानी।
उग्र-वंश मय विशाल नभ के दिव्य सूर्य, पूरण ज्ञानी।।
कुपथ निराकृत कर भ्रमितों को पथिक सुपथ के बना दिये।
पार्श्वनाथ मम पास वास बस, करो, देर अब बिना किये।।५।।

दोहा

खास दास की आस बस श्वास-श्वास पर वास।
पार्श्व करो मत दास को उदासता का दास।।१।।

ना तो सुर-सुख चाहता शिव-सुख की ना चाह।
तव थुति-सरवर में सदा होवे मम अवगाह।।२।।

वीर-स्तवन

तव गुण-गण की फैल रही है विमल कीर्ति वह त्रिभुवन में।
तभी हो रहे शोभित ऐसे वीर देव बुध जन-जन में।।
कुन्द पुष्प की शुक्ल कान्ति-सम कान्ति धाम शशि हो भाता।
घिरा हुआ हो जिससे उडुदल गीत-गगन में हो गाता।।१।।

सत युग में था कलियुग में भी तव शासन जयवन्त रहा।
भव्यजनों के भव का नाशक मम भव का भी अन्त रहा।।
दोष चाबु को निरस्त करते पर मत खण्डन करते हैं।
निज-प्रतिभा से अतः गणी ये जिनमत मण्डन करते हैं।।२।।

प्रत्यक्षादिक से ना बाधित अनेकान्त मत तब भाता।
स्याद्-वाद सब वाद-विवादों का नाशक मुनिवर ! साता।।
प्रत्यक्षादिक से हैं बाधित स्याद्वाद से दूर रहे।
एकान्ती मत इसीलिए सब दोष धूल से पूर रहे।।३।।

दुष्ट दुराशय धारक जन से पूजित जिनवर रहे कदा ?
किन्तु सुजन से सुरासुरों से पूजित वंदित रहे सदा।।
तीन लोक के चराचरों के परमोत्तम हितकारक हैं।
पूर्ण ज्ञान से भासमान शिव को पाया अघहारक हैं।।४।।

समवशरण थित भव्यजनों को रुचते मन को लोभ रहे।
सामुद्रिक औ आत्मिक गुण से हे प्रभुवर अति शोभ रहे।।
चमचम चमके निजी कान्ति से ललित मनोहर उस शशि को।
जीत लिया तब काय कान्ति ने प्रणाम मम हो जिन ऋषि को।।५।।

सुमुक्ष जन के मनवांछित फलदायक ! नायक ! जिन तुम हो।
तत्त्व-प्ररूपक तव आगम तो श्रेष्ठ रहा अति उत्तम हो।।
बाहर-भीतर श्री से युत हो माया को निःशेष किया।
श्रेष्ठ श्रेष्ठतम कठिन कठिनतम यम-दम का उपदेश दिया।।६।।

मोह-शमन के पथ के रक्षक अदया तज कर सदय हुए।
किया जगत में गमन अबाधित सभय सभीजन, अभय हुए ।।
ऐसा लगते तब, गज जैसा मद-धारा, मद बरसाता।
बाधक गिरी की गिरा कटेनियां अरुक अनाहत बस जाता ।।७।।

एकान्ती मत-मतान्तरों में वचन यदपि श्रुत-मधुर सभी।
किन्तु मिले ना सगुण कभी भी नहीं सकल-गुण प्रचुर कभी ।।
तव मत 'समन्तभद्र' देव है सकल गुणों से पूरण हैं।
विविध नयों की भक्ति-भूख को शीघ्र जगाता चूरण है ।।८।।

दोहा

नीर-निधी-से धीर हो वीर बने गंभीर।
पूर्ण तैर कर पा लिया भवसागर का तीर ।।१।।

अधीर हूं मुझ धीर दो सहन करूं सब पीर।
चीर-चीर कर चिर लखूं अन्तर की तस्वीर ।।२।।

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूं नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियां होवें यदि यहां, शोध पढ़ें धीमान् ।।

मंगल कामना

विना-भीति विचरूं सदा वन में ज्यों मृगराज।
ध्यान धरूं परमातम का निश्चल हो गिरिराज ।।१।।

सागर सम गंभीर मैं बनूं चन्द्र-सम शान्त।
गगन-तुल्य स्वाश्रित रहूं हरूं दीप-सम ध्वान्त ।।२।।

रवि सम पर-उपकार मैं करूं समझ कर्त्तव्य।
रखूं न मन में मान-मद सुन्दर हो भवितव्य ।।३।।

चिर संचित सब कर्म को राख करूं बन आग।
तप्त आतम को शान्त भी करूं बनूं गतराग ।।४।।

सदा संग बिन पवन सम विचरूं मैं निस्संग।
मंत्र जपूं निज तन्त्र का नष्ट शीघ्र हो अंग ॥५॥

तन मन को तप से तपा स्वर्ण बनूं छविमान।
भक्त बनूं भगवान को भजूं बनूं भगवान ॥६॥

द्रव्य हेय जड़मय तजूं ध्येय बना निज द्रव्य।
कीलित कर निज चित्त को पाऊं शिव-सुख दिव्य ॥७॥

भद्र बनूं बस भद्रता जीवन का श्रृंगार।
द्रव्य दृष्टि में निहित है सुख का वह संचार ॥८॥

तापस बस प्रति लोम हो मुझमें चिर बस जाय।
है यह हार्दिक भावना मोह सभी नश जाय ॥९॥

गुरु-स्मृति

तरणि 'ज्ञानसागर' गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

स्थान एवं समय-परिचय

भव सागर से भीत हैं सागर के सागार।
प्रथम बार पहुंचा यहां ससंघ मैं अनगार ॥१॥

द्रव्य-गगन-गति-गंध की वीर जयन्ती आज।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को ध्येय ! बनूं जिनराज ॥२॥

द्रव्य-संग्रह

मंगलाचरण

देवाधि देव जिन नायक ने किया है,
जो जीव का कथन द्रव्य अजीव का है।
सौ-सौ सुरेन्द्र झुकते जिनके पदों में,
वन्दूं सदा विनत हो उनके अहो मैं ॥१॥

जीव द्रव्य के नव अधिकारों के नाम

भोक्ता स्वदेह परिमाण सुसिद्ध स्वामी,
होता स्वभाव वश हो वह ऊर्ध्वगामी।
कर्ता अमूर्त उपयोगमयी तथा है,
सो जीव जीव भर की नव ये कथा है ॥२॥

जीवत्वाधिकार (जीव स्वरूप) का स्पष्टीकरण

उच्छ्वास स्वांस बल इन्द्रिय आयु प्यारे,
ये चार प्राण जग जीव त्रिकाल धारे।
संगीत यों गुन-गुना व्यवहार गाता,
पै जीव में नियम से चिति प्राण भाता ॥३॥

उपयोगाधिकार का वर्णन

ज्ञानोपयोग इक दर्शन नाम पाता,
यों जीव का द्विविध है उपयोग भाता।
चक्षु अचक्षु अवधि वर केवलादि,
ये चार भेद उस दर्शन के अनादि ॥४॥

ज्ञानोपयोग के भेद

मिथ्या, सही मति श्रुतावधि ज्ञान तीनों,
कैवल्य ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान दोनों।
यों ज्ञान अष्ट विध है गुरु है बताते,
प्रत्यक्ष ज्ञान चहु चार परोक्ष भाते ॥५॥

जीव का लक्षण

यो चार आठ विध दर्शन ज्ञान वाला,
सामान्य जीव परिलक्षण है निराला।
ऐसा स्वगीत व्यवहार सुना रहा है,
पै शुद्ध 'ज्ञान दृग' निश्चय गा रहा है ॥६॥

अमूर्तित्वाधिकार का विवरण

ये पंच पंच वसु दो रस वर्ण स्पर्श,
गंधादि जीव गुण को करते न स्पर्श।
सो जीव निश्चय तया कि अमूर्त्त भाता,
पै मूर्त्त बन्ध वश है व्यवहार गाता ॥७॥

कर्तृत्वाधिकार का विवरण

आत्मा विशुद्ध नय से शुचि धर्म का है,
औ व्यावहार वश पुद्गल कर्म का है।
कर्ता अशुद्धनय से रति भाव का है,
चैतन्य के विकृत भाव विभाव का है ॥८॥

भोक्तृत्वाधिकार का विवरण

रे व्यावहार नय से विधि के फलों को,
है भोगता सुख दुखों जड पुद्गलों को।
आत्मा विशुद्धनय से निज चेतना को,
पै भोगता तुम सुनो जिन देशना को ॥९॥

स्वदेह परिमाणत्व अधिकार का वर्णन

विस्तार संकुचन शक्ति तथा शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी।
पै छोड़ के समुद घात दशा हितैषी,
है वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥१०॥

संसारित्व अधिकार का वर्णन

पृथ्वी जलानत समीर तथा लतायें,
एकेन्द्रि जीव सब थावर ये कहायें।
है धारते करण दो त्रय चार पंच,
शंखादि जीव त्रस है सुख है न रंच ॥११॥

चौदह जीव समास (जीवों के संक्षिप्त भेद)

संज्ञी कहाय समना अमना असंज्ञी,
पंचेंद्रिय हो द्विविध शेष सभी असंज्ञी।
ऐकेन्द्रि जीव सब बादर सूक्ष्म होते,
पर्याप्त औ इतर ये दिन रैन रोते ॥१२॥

द्वितीय और तृतीय से १४ जीव समास

है मार्गणा व गुण थान तथा विकारी,
होते चतुर्दश चतुर्दश काय धारी।
गाता अशुद्धनय यों सुन भव्य! प्यारे,
पै शुद्ध शुद्धनय से जग जीव सारे ॥१३॥

सिद्धत्व और ऊर्ध्वगमनत्व अधिकार का वर्णन

उत्पाद ध्रौव्य व्यय लक्षण से लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं।
वे सिद्ध न्यून कुछ अंतिम काय से हैं,
निष्कर्म अक्षय सजे गुण आठ से हैं ॥१४॥

अजीव द्रव्यें वा उनके मूर्ति का मूर्ति कपना

आकाश पुद्गल व धर्म अधर्म काल,
ये है अजीव सुन तू अयि भव्य बाल।
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते,
है मूर्त्त पुद्गल न शेष अमूर्त्त भाते ॥१५॥

पुद्गल द्रव्य की विभाव व्यंजन पर्यायें

संस्थान भेद तम स्थूलपना व छाया,
औ सूक्ष्मता करम बंधन शब्द माया।
उद्योत आतप यहां जग में दिखाते,
पर्याय वे सकल पुद्गल के कहाते ॥१६॥

धर्म द्रव्य का लक्षण

धर्मास्ति काय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले गति है दिखाता।
मानो चले न यदि वे न उन्हें चलाता,
ज्यों नीर मीन-गति में गति दान दाता ॥१७॥

अधर्म द्रव्य का स्वरूप

ज्यों जीव पुद्गल रुके स्थिति है दिलाता,
होता अधर्म वह है स्थिति दान-दाता।
मानो चले, नहिं रुके स्थिति दे न भाई,
छाया यथा पथिक को स्थिति में सहाई ॥१८॥

आकाश द्रव्य का लक्षण

जीवादि द्रव्य दल को अवकाश देता,
आकाश सो कह रहे जिन आत्मा जेता।
होता वही द्विविध लोक अलोक द्वारा,
ऐसा सक्ष समझ तू जिन शास्त्र सारा ॥१९॥

लोकाकाश और अलोकाकाश का स्वरूप

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहां हैं,
माना गया अमित लोक यही यहां है।
आकाश केवल, अलोक वही कहाता,
ऐसा बसन्त कलिका यह छन्द गाता॥२०॥

काल द्रव्य का लक्षण

जीवादि द्रव्य परिवर्तन रूप न्यारा,
औ परिणाम मय लक्षण आदि धारा।
तू मान काल व्यवहार वही कहाता,
पै वर्तनामय सुनिश्चय काल भाता॥२१॥

काल द्रव्य के प्रदेश

जो एक-एक करके चिर से लसे हैं,
जो लोक के प्रति प्रदेशन में बसे हैं।
कालाणु है रतन राशि समान प्यारे,
होते असंख्य कहते ऋषि संत सारे॥२२॥

द्रव्य और अस्ति काय के भेद

हैं द्रव्य भेद छह जीव अजीव द्वारा,
श्री वीर ने सदुपदेश दिया सुचारा।
है अस्तिकाय इनमें बस पंच न्यारे,
पै काल के बिन सुनो अपि भव्य प्यारे॥२३॥

अस्ति के लक्षण तथा कारण

जीवादि क्योंकि जब हैं इनको इसी से,
श्री वीर 'अस्ति' इस भांति कहें सदी से।
औ काय से सब सदैव बहु प्रदेशी,
है अस्ति काय फलतः समझो हितैषी॥२४॥

द्रव्यों की प्रदेश व काल के अस्ति कायत्व का निषेध

आकाश में अमित जीव व धर्म में है,
होते असंख्य परदेश अधर्म में हैं।
है मूर्त्त संख्या गत संख्य अनन्त देशी,
ना काल काय फलतः इकमात्र देशी ॥२५॥

पुद्गल के परमाणु के अस्तिकायपना

है मूर्त्त यद्यपि रहा अणु एक देशी,
होता अनेक मिल के अणु नैक देशी।
तो अस्तिकाय फलतः उपचार से है,
सर्वज्ञ यों कह रहें व्यवहार से है ॥२६॥

प्रदेश का लक्षण और शक्ति

जो पुद्गलाणु जड़ है अविभाज्य न्यारा,
आकाश को कि जितना वह घेर डाला।
माना गया वह प्रदेश यहां अकेला,
सर्वाणु स्थान यदि ले वह दे सकेगा ॥२७॥

॥ प्रथमोधिकार समाप्त ॥

सात पदार्थों के कहने की सकारण प्रतिज्ञा

जो पुण्य पाप विधि आस्रव बन्ध तत्व,
औ निर्जरा सुखद संवर मोक्ष-तत्व।
ये भी विशेष सब जीव अजीव के हैं,
संक्षेप से गुरु उन्हें कह तो रहे हैं ॥२८॥

भाव आस्रव और द्रव्य आस्रव का लक्षण

तो ! आत्म के उस निजी परिणाम से जो,
हो कर्म आगमन हा ! अविलम्ब से वो।
है भाव आस्रव वही अरू कर्म आना,
है द्रव्य आस्रव यही गुरु का बताना ॥२९॥

भाव आस्रव के बत्तीस या बहत्तर भेद

मिथ्यात्व औ अविरति व प्रमाद-योग,
क्रोधादि भाव मय आस्रव दुःख योग।
ये पांच-पांच दश पांच त्रि चार होते,
देही इन्हें धर सदैव अपार रोते ॥३०॥

द्रव्य आस्रव का लक्षण और भेद

मोहादि कर्म पन में ढल पुद्गलों का,
आता समूह जड़ आतम में जड़ों का।
हो द्रव्य आस्रव वही बहु-भेद वाला,
ऐसा जिनेश कहते सुख वेद शाला ॥३१॥

भाव बंध और द्रव्य बंध का लक्षण

जो कर्म बन्ध जिस चेतन भाव से हो,
है भाव बन्ध वह दूर स्वभाव से हो।
दोनों मिले जब परस्पर कर्म आत्मा,
सो द्रव्य बन्ध जिससे निज धर्म खात्मा ॥३२॥

बन्ध के भेद और उनके कारण

है बन्ध चार विध है प्रकृति प्रदेशा,
औ आनुभाग स्थिति है कहते जिनेशा।
हो योग से प्रकृति बंध प्रदेश होते,
भाई कषाय वश रोष हमेश होते ॥३३॥

भाव संवर और द्रव्य संवर का लक्षण

है भाव आस्रव निरोधन में सहाई,
चैतन्य से उदित जो परिणाम भाई।
सो भाव संवर सुनिश्चय ने पुकारा,
द्रव्य आस्रवा रुकत संवर द्रव्य न्यारा ॥३४॥

भाव संवर के भेद

ये गुप्तिया समितियां व्रत साधनाएं,
सत्यादि धर्म दश द्वादश भावनाएं।
औ जीतना परीषहों सुचरित्र नाना,
हैं भाव संवर सभी गुरु का बताना ॥३५॥

निर्जरा का लक्षण और भेद

भोगा गया करम झड़ना सुचारा,
कालानुसार तप से निज भाव द्वारा।
सो भाव भावमय निश्चित निर्जरा है,
औ कर्म का झरण द्रव्य सुनो जरा है॥
सत् त्याग से विधि-झरे अविपाक सो हैं,
छूटे विधि समय पे सविपाक सो है।
यो निर्जरा यह नितान्त द्विधा-द्विधा है,
प्राप्तव्य मार्ग अविपाक भली सुधा है॥३६॥

मोक्ष के स्वरूप और उसके भेद

जो आत्म भाव सब कर्म विनाश हेतु,
सो भाव मोक्ष सुन ले जिन दास रे तू।
औ आत्म से पृथक हो जड़ कर्म प्यारे,
सो द्रव्य मोक्ष मिलता निज धर्म धारे॥३७॥

पुण्य और पाप पदार्थ का वर्णन

देहि शुभा शुभ विकार विभाव धारी,
है पुण्य पाप निश्चय से विकारी।
होता शुभायु शुभगोत्र सुनाम साता,
है पुण्य शेष बस! पाप किसे सुहाता॥३८॥

॥ द्वितीयोधिकार समाप्त ॥

व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्ग का लक्षण

रे मोक्ष का सुखद कारण ही वही है,
विज्ञान औ चरित दर्शन जो सही है।
ऐसा कहे कि व्यवहार यथार्थ में तो,
रत्नत्रयात्मक निजात्म पदार्थ में हो ॥३९॥

आत्मा ही को निश्चय मोक्ष मार्ग कहने का कारण

रे ! आत्म द्रव्य तज अन्य पदार्थ में वो,
ज्ञानादि रत्नत्रय हीन यथार्थ में हो।
आत्मा रहा इन त्रयात्मक ही स्वतः है,
सो मोक्ष कारण निजातम ही अतः है ॥४०॥

व्यवहार सम्यग्दर्शन का स्वरूप

है आत्म रूप वह जीव अजीव श्रद्धा,
सम्यक्त्व, किन्तु करता न अभव्य श्रद्धा।
सम्यक्त्व होय तब ज्ञान सुचारु सच्चा,
संमोह संशय विमुक्त सुहाय अच्छा ॥४१॥

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप

संमोह संभ्रम ससंशय हीन प्यारा,
कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला।
माना गया स्व पर भाव-प्रभाव दर्शी,
साकार नैक विध शाश्वत सौख्य स्पर्शी ॥४२॥

दर्शनोपयोग का लक्षण

साकार के बिन विशेष किये बिना ही,
सामान्य द्रव्य भर का वह मात्र ग्राही।
है भव्य मान वह दर्शन नाम पाता,
ऐसा जिनागम यहां अविराम गाता ॥४३॥

दर्शन और ज्ञान की उत्पत्ति का नियम

हो पूर्व दर्शन जिसे फिर ज्ञान होता,
छद्मस्थ दो न युगपत् उपयोग ढोता।
दो एक साथ उपयोग महाबली को,
मेरा उन्हें नमन हो जिन के बली को ॥४४॥

व्यवहार सम्यक्चारित्र का स्वरूप और भेद

जो त्यागता अशुभ को शुभ निभाना,
मानो उसे ही व्यवहार चरित्र बाना।
ये गुप्तियां समितियां व्रत आदि सारे,
जाते अवश्य व्यवहार तथा पुकारे ॥४५॥

निश्चय सम्यक्चारित्र का लक्षण

जो बाह्य भीतर क्रिया भव वर्धिनी है,
ज्ञानी निरोध उनका करते गुणी हैं।
वे ही यमी चरित निश्चय धर पाते,
ऐसा जिनेश कहते भव-पार जाते ॥४६॥

ध्यानाभ्यास करने की हेतुपूर्वक प्रेरणा

है मोक्ष मार्ग द्वय को अनिवार्य पाता,
सद् ध्यान लीन मुनि वो धाता।
भाई अतः यतन से सुचि भाव से रे,
अभ्यास ध्यान निज का कर चाव से रे ॥४७॥

ध्यान में लीन होने का उपाय

हो चित्त को अचल मेरु अहो बनाना,
हो चाहते सहज ध्यान सदा लगाना।
अच्छे बुरे सुखद दुःखद वस्तुओं में,
ना मोह द्वेष रति राग करो जड़ों में ॥४८॥

ध्यान करने योग मंत्र

पैंतीस सोलह छः पांच व चार दो एक,
जो शब्द वाचक रहें परमेष्ठियों के।
या अन्य भी पद मिले मुझे देशना से,
ध्यावो उन्हें तुम जपो शुचि चेतना से।।४६।।

अरिहन्त परमेष्ठि (सच्चे देव) का स्वरूप

जो घाति कर्म दल को जड़ से मिटाया,
संपूर्ण ज्ञान सुख-दर्शन वीर्य पाया।
औ दिव्य देह स्थित है अरहन्त आत्मा,
है ध्येय ध्यान उसका कर अन्तरात्मा।।५०।।

सिद्ध परमेष्ठी का स्वरूप

दृष्टा व ज्ञायक त्रिलोक अलोक के हैं,
आसीन जो शिखर पे त्रय लोक्य के हैं।
दुष्टाष्ट कर्म तन वर्जित ध्येय प्यारे,
आकार से पुरुष सिद्ध सदैव ध्या! रे।।५१।।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप

आचार पंच तप चारित्र वीर्य प्यारा,
औ ज्ञान दर्शन जिनागम ने पुकारा।
आचार में रत स्वयं पर को कराता,
आचार्य वर्य मुनि ध्येय वही कहाता।।५२।।

उपाध्याय परमेष्ठी का स्वरूप

धर्मोपदेश समयोचित नित्य देते,
ज्ञानादि रत्नत्रय में रस पूर्ण लेते।
होते यतीश उवझाय प्रवीण तातैं,
हो आपके चरण में हम लीन जाते।।५३।

साधु परमेष्ठी (दिगम्बर जैन मुनि) का लक्षण

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत चरित्र होता,
है मोक्षमार्ग वह हैं सुख को संजोता।
जो साधते सतत हैं उसको सुचारा,
वे साधु हैं नमन हो उनको हमारा ॥५४॥

ध्याता ध्येय और ध्यान (निश्चय ध्यान) का स्पष्टीकरण

कोई पदार्थ मन में सुविचारता है,
हो वीतराग मुनि राग विसारत हैं।
एकत्व को नियम से वह शीघ्र पाता,
संसार में सुखद निश्चय ध्यान ध्याता ॥५५॥

परम ध्यान का लक्षण

चिन्ता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख को न खोलो।
यों योग में गिरि बनो शुभ ध्यान होता
आत्मा निजात्मा रत ही वरदान होता ॥५६॥

ध्यान का कारण या उपाय

सद्ज्ञान पा तप महाव्रत धार पाता,
वो साधु ध्यान-रथ बैठ स्वधाम जाता।
सद् ध्यान पूर्ण सधने तुम तो इसी से,
ज्ञानादि में निरत हो नित हो रूची से ॥५७॥

ग्रन्थकार का लघुता प्रकाशन

मैं 'नेमी चन्द्र' मुनि हूं लघुधी यमी हूं,
ये 'द्रव्य संग्रह' लिखा पर मैं शमी हूं।
विज्ञान कोष गत दो सुसाधु नेता,
शोधे इसे बस यही मन-अक्ष-जेता ॥५८॥

गुरु-स्तुति

हे ! नेमि चन्द्र मुनि कौमुद मोदकारी,
सिद्धान्त पारग-विराग चिराग धारी।
दो ज्ञान सागर गुरो मुझको सुविधा,
विद्यादि सागर बनूं तज दूं अविद्या ॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूं नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियां होवें यदि, यहां शोध पढ़ें धीमान ॥

मंगल कामना

चाहो शाश्वत मोक्ष को चाहो केवल ज्ञान।
संग त्याग कर नित करे निज का केवल ध्यान ॥
रवि से बढ़कर तेज है शशि से बढ़कर ज्योत।
झांक देख निज में जरा सुख का खुलता स्रोत ॥
पर में सुख कहिं है नहीं खुद ही सुख की खान।
निजी नाभि में गंध है मृग भटके बिन ज्ञान ॥
आत्म कथा ताज क्यों करो नित विकथा निस्सार।
पय तज, पीते विष भला क्यों हो निज उद्धार ॥
प्रतिदिन सविनय चाव से इसको पढ़ तू भव्य।
सुर सुख शिव सुख नियम से पाले अक्षय द्रव्य ॥

समय एवं स्थान परिचय

देव गगन गति गंध की तिथि श्रुत पंचमी सार।
ग्राम अभाना में लिखा ध्येय मिले भव पार ॥

समणसुत्तं का पद्यानुवाद

अनुवादक—आचार्य मुनि श्री विद्यासागर जी

१. मंगल सूत्र

वसन्ततिलका

हे शान्त सन्त अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
हे शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता।
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु,
मैं बार-बार तुम पाद पयोज बंदूं॥१॥

है मूलमन्त्र नवकार सुखी बनाता,
जो भी पढ़े विनय से अघ को मिटाता।
है आद्य मंगल यही सब मंगलों में,
ध्याओ इसे न भटको जग-जंगलों में॥२॥

सर्वज्ञदेव अरहन्त परोपकारी,
श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार मंगल, अमंगल को निवारे॥३॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे॥४॥

ये बाल भानु सम हैं अरहन्त स्वामी,
लोकाग्र में स्थित सदाशिव सिद्ध नामी।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार ही शरण हैं जग में हमारे॥५॥

जो श्रेष्ठ हैं शरण, मंगल कर्मजेता,
आराध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता।
हैं वन्द्य खेचर, नरों, असुरों, सुरों के,
वे ध्येय, पंच गुरु हों, हम बालकों के ॥६॥

है घातिकर्मदल को जिससे नशाया,
विज्ञान पा सुख अतुल्य अनन्त पाया।
है भानु, भव्यजनकंज विकासते हैं,
शुद्धात्म की विजय ही अरहन्त वे हैं ॥७॥

कर्त्तव्य था कर लिया, कृतकृत्य दृष्टा,
हैं मुक्त कर्मतन से निज द्रव्य स्रष्टा।
हैं दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से,
वे सिद्ध सिद्धिसुख दें मुझको जरा से ॥८॥

ज्ञानी, गुणी मतमतान्तर ज्ञान धारे,
संवाद से सहज वाद-विवाद टारे।
जो पालते परम पांच महाव्रतों को,
आचार्य वे सुमति दें हम सेवकों को ॥९॥

अज्ञान रूप-तम में भटके फिरे हैं,
संसारि जीव हम हैं दुःख से घिरे हैं।
दो ज्ञान ज्योति उवझाय व्यथा हरो ना !
ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना ॥१०॥

अत्यन्त शान्त विनयी समदृष्टि वाले,
शोभें प्रशस्त यश से शशि से उजाले।
हैं वीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचा ले ॥११॥

अर्हंत् अकाय परमेष्ठि विभूतियों के,
आचार्यवर्य, उवझाय, मुनीश्वरों के।
जो आद्य वर्ण अ, अ, आ, उ, म को निकालो
'ओं'कार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥१२॥

आदीश है अजित संभव मोक्ष धाम,
वन्दूं गुणौघ अभिनन्दन हैं ललाम।
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊं,
चन्द्रप्रभु चरण से चिति ना चलाऊं ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि-शीतल शील पुंज,
श्रीयांस पूज्य, जगपूजित वासुपूज्य।
आदर्श से विमल, सन्त अनन्त धर्म,
मैं शान्ति को नित नमूं मिल जाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी,
सद्बोध धाम मुनिसुव्रत विश्व नामी।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी,
श्री 'पार्श्व वीर' प्रणमूं निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

है भानु से अधिक भासुरकान्ति वाले,
निर्दोष है इसलिए शशि से निराले।
गंभीर नीर-निधि से जिन सिद्ध प्यारे,
संसार-सागर सुतीर मुझे उतारें ॥१६॥

२. जिन शासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मन मोद पाते,
है भव्य जीव भववारिधि पार जाते।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई वही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचन है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी 'जिनभारती' है॥१८॥

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र बाद, गणनायक ने बनाया।
पूजूं इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु,
पी, बिन्दु, बिन्दु, हरबिन्दु समेत वन्दूं॥१६॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमें निशानी।
ओ हो विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वही सब पदार्थ-यथार्थ-गाथा॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारे,
चरित्र भी तदनुसार सदा सुधारे।
संक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारे,
संसारि जीवन परीत बनाय सारे॥२१॥

हे 'वीतराग' जगदीश कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक में भरो तो।
होऊं विरक्त तन से शिवमार्गगामी,
मैं केवली विमल निर्मल विश्व नामी॥२२॥

है ओज तेज झरता मुख से शशी है,
गंभीर, धीर, गुण, आगर है वशी है।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र ज्ञाता,
खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता॥२३॥

जो भी हिताहित यहां निज के लिए है,
वे ही सदैव समझो पर के लिए है।
हे जैन शासन यही करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश्य है सबको दिखाता ।।२४।।

३. संघ सूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलक धोता,
ना दोष धाम वह तो गुण धाम होता।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत 'संघ' उसे प्रशस्त ।।२५।।

सम्यक्त्व बोध व्रत को 'गण' नित्य मानो,
है 'गच्छ' मोक्ष पथ पै चलना सुजानो।
सत् संघ है गुण जहां उभरे हुए हैं,
शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं ।।२६।।

आओ यहां अभय है भव भीत भाई,
धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई।
माता पिता सब समा नहिं भेद नाता,
लो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ।।२७।।

सम्यक्त्व में चरित में अति प्रौढ़ होते,
विज्ञान रूप सर में निज को डुबोते।
जो संघ में रह स्वजीवन को बिताते,
वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ।।२८।।

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा? ।।२९।।

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर से है,
उत्फुल्ल भी जिनय सूर्यप्रकाश से है।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं,
गाते जहां प्रगुण केसर पी रहे हैं॥३०॥

भाती जहां वह महाव्रत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी-सुमृपालका है।
घेरे हुए, श्रमणरूप सहस्रपत्र,
ओ 'संघ पद्म' जयवन्त रहे पवित्र॥३१॥

४. निरूपण सूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा।
तो सत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई,
यों युक्तिपूर्वक पदार्थ लखे, भलाई॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चित, औ व्यावहार,
विस्तार शेष इनका करता प्रचार।
पर्याय-द्रव्य नय है नय दो नयों में,
होते सहायक सुनिश्चय साधने में॥३४।

धारे अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे,
तो भी 'सुनिश्चय' अखंड उन्हें निहारे।
पै खंडखंड कर द्रव्य अखंड को भी,
देखे कथंचित यहां 'व्यवहार' सो ही॥३५॥

विज्ञान औ चरित, दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहे, सकल वे व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक, मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नहीं सुहाता।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ॥३७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा !
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया—
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता,
सम्यक्त्व भूषित, सही मन मैल धोता ॥३९॥

जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है,
हैं मानते सकल बाह्य क्रिया-वृथा है।
वे मूढ़ नित्य रट निश्चय की लगाते,
चारित्र नष्ट करते, भव को बढ़ाते ॥४०॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवें विशुद्ध नय आश्रम ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले,
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी संभाले ॥४१॥

है कौन से श्रमण के परिणाम कैसे,
कोई पता नहिं बता सकता कि ऐसे।
तल्लीन हो यदि महाव्रत पालने में,
वे वंद्य हैं नित नमूं व्यवहार से मैं॥४२॥

वे ही मृषा नय, करे पर की उपेक्षा,
एकान्त से स्वयं की रखते अपेक्षा।
सच्चे सदैव नय वे पर की निभा लें,
बोले परस्पर मिलें व गले लगा लें॥४३॥

'उत्सर्ग मार्ग' निज में निज का विहारा,
शास्त्रादि साधन रखो अपवाद न्यारा।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा॥४४॥

५. संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत न ही 'ध्रुव है न भाई,
पाऊं निरन्तर यहां दुख ना भलाई।
तो कौनसी विधि विधान सुयुक्तियां रे,
छूटें जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियां रे॥४५॥

ये भोग काम, मधुलिप्त कृपाण से है,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से है।
संसार पक्ष रखते, सुख के विरोधी,
है पाप धाम, इनसे मिलती न बोधी॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमें, मनको विदारे।
रे, छान बीन कर लो तुम बार बार,
निस्तार भूत कदली तरु में न सार॥४७।

प्रारम्भ में अमृत सी सुख शान्ति कारी,
दे अन्त में अमित दारुण दुःख भारी।
भूपाल-इन्द्र पदवी सुर सम्पदायें,
छोड़ो इन्हें विषय दुःख आपदायें ॥४८॥

ज्यों तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते,
रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यों काम जन्य दुख को सुख ही पुकारे ॥४९॥

संभोग में निरस्त, सन्मति से परे है,
जो दुख को सुख गिने, भ्रम से परे है।
वे मूढ़ कर्म मल में फंसते तथा हैं,
मक्खी गिरी तड़फती कफ में यथा हैं ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते सहसा सदा से।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं हैं,
माया मयी सुदृढ़ गांठ खुली नहीं है ॥५१॥

संसारिजीव जितने फिरते यहां हैं,
वे राग रोष करते दिखते सदा हैं।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
हैं कर्म के वहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गति महल देह उन्हें मिलेगी,
वे इन्द्रियां खिड़कियां जिसमें खुलेंगी।
होगा पुनः विषय सेवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग-जन्तुओं से ॥५३

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानो।
संसारिजीव इस भांति विभाव धारे,
वे धन्य हैं तज इन्हें शिव को पधारे ॥५४॥

लो जन्म से, नियम से दुख जन्म लेते,
मारो जरा मरण भी अति दुःख देते।
संसार ही ठस ठसा दुख से भरा है,
पीड़ा चराचर सहें सुख ना जरा है ॥४५॥

६. कर्म सूत्र

जो भी जहां जब जभी जिस भांति भाता,
विज्ञान में तब तभी उस भांति आता।
जो अन्यथा समझता करता बताता,
कुज्ञान हो वह, सदा सबको सताता ॥५६॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे ?
तो कर्म बन्धन बिना बच जाय कैसे ?
भाई, शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
है जीव संग बंधते, तब वे सताते ॥५७॥

जो काय से वचन से मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता।
त्यों राग रोष वश हो वसु कर्म पाता,
ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृणनित्य खाता ॥५८॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते,
आपत्ति में न सब वे दुख बांट लेते।
जो भोगता करम को करता अकेला,
औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥५६॥

है बन्ध के समय जीव स्वतन्त्र होते,
हो कर्म के उदय में परतन्त्र रोते।
जैसे मनुष्य तरु पै चढ़ते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥६०॥

हा ! जीव को 'सबल' कर्म कभी सताता,
तो कर्म को सहज जीव कभी दबाता।
देता धनी धन अरे ! जब निर्धनों को,
होता बली, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥६१॥

सामान्य से करम एक, नहीं द्विधा है,
है द्रव्य कर्म जड़, चेतन से जुदा है।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-रोष-भाव,
है भाव कर्म जिससे कर लो बचाव ॥६२॥

शुद्धोपयोगमय आतम को निहारे,
वे साधु इन्द्रिय जयी मन मार डारें।
ना कर्म रेणु उन पै चिपके कदापी,
ना देह धारण करें फिर से अपापी ॥६३॥

ना ज्ञान-आवरण से सब जानना हो,
ना दर्शनावरण से सब देखना हो।
है वेदनीय सुख दुःख हमें दिलाता,
है मोहनीय उलटा जग को दिखाता ॥६४॥

ना आयु के उदय में, तन जेल छूटे,
है नाम कर्म रचता, बहुरूप झूठे।
है उच्च-नीच-पददायक गोत्र कर्म,
तो अंतराय वश ना बनता सुकर्म ॥६५॥

संक्षेप से समझ लो तुम अष्ट कर्म,
सद्धर्म से सब सधे शिव-शांति शर्म।।
होती इन्हीं सम सदा वसु कर्म चाल,
कर्मानुसार समझो, पट द्वार पाल।
औ खड्ग, मद्य हलि, मौलिक चित्रकार,
है कुम्भकार क्रमशः वसु कोष पाल।।६६।।

७. मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा,
है दीखता सुख नहीं, परितः अंधेरा।
स्वामी रुका न अब लौं गति चार फेरा,
मेरा अतः नहिं हुआ शिव में बसेरा।।६७।।

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति।
पीयूष भी परम-पावन पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला।।६८।।

मिथ्यात्व से भ्रमित पीकर मोह प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला।
माने न चेतन अचेतन को जुद जो,
होता नितान्त बहिरातम है मुधाओ।।६९।।

तत्त्वानुकूल यदि जो चलता नहीं है,
मिथ्यात्व बीज इनसे बढ़ कौनसी है?
कर्त्तव्य मूढ़, पर को वह है बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता।।७०।।

८. रागपरिहार सूत्र

है कर्म के विषम बीज सराग रोष,
संमोह से करम हो बहुदोष कोष।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो,
ये दुःख मूल इनकी कब निर्जरा हो? ॥७१॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर बैरी,
हानि तथापि उससे उतनी न तेरी।
ये राग रोष तुझको जितनी व्यथा दें,
कोई न दें, अब इन्हें दुख दे, मिटा दे ॥७२॥

संसार सागर असार अपार खारा,
संसारिक सुख यहां न मिला लगारा।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा,
ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥७३॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
चाहो नहीं यदि यहां अब दुःख पाना।
धोखा न दो स्वयं को टल जाय मौका,
बैठो सुशीघ्र तप-संयम-रूप नौका ॥७४॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्र रूप पथ से बुध को डिगाते।
ये पाप ताप मय हैं रति-राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥७५॥

भोगाभिलाष वश ही बस भोगियों को,
होता असह्य दुःख है सुर मानवों को।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते,
वे वीतराग बन जीवन हैं बिताते ॥७६॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है,
औ कार्य आर्य करते अविलम्ब से है।
जो हैं विरक्त तन से भव पर जाते,
आसक्त भोग तन में भवको बढ़ाते ॥७७॥

है राग दोष दुख, पै न पदार्थ सारे,
वे बार बार मन में बुध यों विचारे।
तृष्णा अतः विषय की पड़ मंद जाती,
जाती विमोह ममता, समता सुहाती ॥७८॥

मैं शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला।
रे! देह नेह करना अति दुःख पाना,
छोड़ो उसे तुम, यही गुरु का बताना ॥७९॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियों का,
वैराग्य से शमन क्रोध कषायियों का।
हो कर्म आगमन द्वार नितान्त बन्द,
शुद्धात्म को नमन हो, नहिं कर्म बन्ध ॥८०॥

ज्यों शोभता जलज जो जल से निराला,
त्यों वीतराग मुनि भी तन से खुशाला।
होता विरक्त, भव में रहता यही है,
रंगीन में न रचता पचता नहीं है ॥८१॥

९. धर्म सूत्र

पाता सदैव तप संयम से प्रशंसा,
औ धर्म मंगलमयी जिसमें अहिंसा।
जो भी उसे विनय से उर में बिठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥८२॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादि दशलक्षण धर्म-नाव।
ज्ञानादि रत्नत्रय धर्म, सुखी बनाता,
है विश्व धर्म त्रस थावर प्राणि त्राता ॥८३॥

प्यारी क्षमा, मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच्य संयम धरो, तप से भलाई।
त्यागो परिग्रह, अकिंचन गीत गालो,
तो ब्रह्मचर्यसर में डुबकी लगाओ ॥८४॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों सुरों से,
या खेचरों पशुगणों जन दानवों से।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥८५॥

प्रत्येक काल सबको करता क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करे नित मांगता मैं।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वैर भाव किससे ? जब है न वैरी ॥८६॥

मैंने प्रमाद वश दुःख तुम्हें दिया हो,
किंवा कभी यदि अनादर भी किया हो।
ना शल्य मान मन रखता मुधा मैं,
हूं मांगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥८७॥

हूं श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी, सुशील, अतिसुन्दर हूं तपस्वी।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते,
निभ्रन्ति वे परम मार्दव धर्म पाते ॥८८॥

देता न दोष पर को, गुण ढूंढ़ लेता,
निन्दा करे स्वयं की, मन अक्ष जेता।
मानो वही नियम से गुण धाम ज्ञानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥८६॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहु बार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च निच्चा ॥९०॥

आचार में वचन में व विचार में भी,
जो धारता कुटिलता नहिं स्वप्न में भी।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता,
ज्ञानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता ॥९१॥

मिश्री मिले, वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को।
कल्याण हो स्वपर का मुनि बोलता है,
हो सत्य धर्म उसका, दृग खोलता है ॥९२॥

हो चोर चौर करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य भाषी।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता ॥९३॥

सार्धमि के वचन आज नहीं सुहाते,
है पथ्यरूप, फलतः कटु दीख पाते।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुस्कुराई ॥९४॥

विश्वास पात्र जननी सम सत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु सदृश अप्रमादी।
वे विश्व को स्वजन भांति सदा सुहाते,
वंदूं उन्हें सतत मैं शिर को झुकाते ॥९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेकों,
है सत्य में निहित संयम शील देखो।
आवास ज्यों जलधि है जलजीवियों का,
त्यों सत्य धर्म जग में सब सद्गुणों का ॥९६॥

ज्यों ज्यों विकास धन का क्रमशः चलेगा,
त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ता, बढ़ता बढ़ेगा।
सम्पन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा,
होता वही न मन से रहता अधूरा ॥९७॥

सैकड़ों कनक निर्मित पर्वतों को,
होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को।
आकाश है वह अनन्त, अनन्त आशा,
आश मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा ॥९८॥

त्यों मोह से जनम, तामस लोभ का हो,
या लोभ से दुरित कारण, मोह का हो।
ज्यों वृक्षओं, उपजता उस बीज से है,
या बीज जो उपजाता इस वृक्ष से है ॥९९॥

सन्तोष धार, समता जल से विरागी,
धोते प्रलोभ-मल को बुध सन्त त्यागी।
लिप्सा नहीं अशन में रखते कदापि,
हो शौच धर्म उनका, तज पाप पापी ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है।
सारी कषाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल संयम साधना है॥१०१॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा,
है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा।
स्वाध्याय ध्यान बल से निजको निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा॥१०२॥

वैराग्य धार भवभोग शरीर से ओ,
देखा स्व को यदि सुदूर विमोह से हो।
तो त्याग धर्म समझो उनने लिया है,
सन्देश यों जगत को प्रभु ने दिया है॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनता अपापि।
त्यागी वही नियम से जग में कहाता,
भोगी न भोग तजता, भव योग पाता॥१०४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहिं सुखी, बस नित्य चंगा।
भाई वही वर अकिंचन धर्म पाता,
पाता स्वकीय सुखको, अघ को खपाता॥१०५॥

हूं शुद्ध पूर्ण दृग बोध मयी सुधा से,
मैं एक हूं पृथक् हूं सब से सदा से।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी,
मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी॥१०६॥

मैं हूं सुखी रह रहा सुख से अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला।
उद्दीप्त हो यदि जले मिथिला यहां रे,
बोले 'जमी' कि उससे मम हानि क्यों रे॥१०७॥

निस्तार जान जिनने व्यवहार सारा,
छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा।
ऐसा कहें सतत वे सब सन्त सच्चे,
कोई पदार्थ जग में न बुरे न अच्छे॥१०८॥

ज्यों पद्म जो जलज हो, जल से निराला,
ओ ना गले, नहिं सड़े रहता निहाला।
त्यों भोग में न रचता-पचता नहीं है,
तो पूज्य ब्राह्मण यहां जग में वही है॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुःख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मुनि, मोहन को नशाया।
तृष्णा विनष्ट उससे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे बिन संग जो भी॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
हूं बार-बार उसको शिर मैं नवाता॥१११॥

चन्द्रानना, मृगदृगी, मृदुहास वाली,
लीलावती, ललितलो ललना निराली।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि 'हम' हैं सब ब्रह्मचारी॥११२॥

संसर्ग पा अनल का झट लाख जैसा,
स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकान्त में विपिन में निज में जरूर॥११३॥

कामेन्द्रि का दमन रे, जिसने किया है,
कोई नहीं अब उसे कठिनाइयां हैं।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता,
क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता ?॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री से बचे नर, बचे नर से सुनारी।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई,
उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति,
फैली दिगंत तक है जिन—शील-ख्याति।
ये हैं पवित्र धरती पर देवतायें,
पूजें इन्हें नित सुरासुर अपसरायें॥११६॥

कामाग्नि से जलरहा त्रय लोक सारा,
देखो जहां विषय की लपटें अपारा।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं,
सत् शील से लस रहे निज में रमे हैं॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती,
आती न लौट, जनता रह जाय रोती।
मोही अधर्मरत है, उसकी निशायें,
जातीं वृथा दुःखद है उलटी दिशायें॥११८॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमाने,
जाके बसे शहर में खुलती दुकानें।
है विज्ञ एक उनमें धन को बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

ओ मूढ़, मूल धन को जिसने गंवाया,
सारा गया वितथ हाय, किया कराया।
ऐसा हि कार्य अबलौं हम ने किया है?
सद्धर्म पा उचित कार्य कहां किया है? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता,
शुद्धात्म रूप निज साक्षिक धर्म भाता।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावे,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

१०. संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शालमली है,
दाहात्मिका-विषम-वैतरिणी नदी है।
किंवा सुनंदन वनी मनमोहिनी है,
है काम धेनुसुखदा दुःख हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभाव कर्त्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता।
आत्मा अनात्मरत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयं में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी,
स्वच्छन्द-इन्द्रिय-कषाय-निकाय बैरी।
जीतूं उन्हें निज नियंत्रण में रखूं मैं,
धर्मानुसार चल के निज को लखूं मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी।
रे ! शूर-वीर विजयी जग में वही है,
जो जीतता स्वयं को बनता सुखी है॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा ?
पूछूं तुम्हें दुरित क्या उससे टलेगा ?
भाई लड़ो स्वयं से, मत दूसरों से,
छूटो सभी सहज से भव-बंधनों से॥१२६॥

अत्यन्त ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्त्तव्य मन उसको बस साधना है।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभलेता॥१२७॥

औचित्य है न पर के वध बंधनों से,
मैं हो रहा दमित, जो कि युगों-युगों से।
होगा यही उचित, संयम योग धारूं,
विश्वास है, स्वयं पे जय शीघ्र पाऊं॥१२८॥

हो एक से विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल सब कार्य विवेक से हो।
ले लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति,
सारे करो सतत संयम में प्रवृत्ति॥१२९॥

है राग-रोष अघकोष नहीं सुहाते,
ये पाप कर्म, सब से सहसा कराते।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते,
आते न लौट भव में, सुख चैन पाते॥१३०॥

लो, ज्ञान ध्यान तप संयम साधनों को,
हे 'साधु' इन्द्रिय-कषाय-निकाय रोको।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम,
ज्यों ही लगाम लगता बनता गुलाम ॥१३१॥

चरित्र में जिन समान बने उजाले,
वे वीतराग, उपशान्त कषाय वाले।
नीचे, कषाय उनको जब है गिराती,
जो है सराग, फिर क्या न उन्हें नचाती ? ॥१३२॥

हा ! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कषाय वर्ष मंद विशुद्धि वाला।
विश्वास-भाजन कषाय अतः नहीं है,
जो आ रही उदय में अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा ऋण, रहा वृण माट छोटा,
है राग, आग लघु यों कहना हि खोटा।
विश्वास क्योंकि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ़के दुःख मर्मरा है ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट 'प्रेम' कदापि जाता,
है मान से विनय शीघ्र विनाश पाता।
माया विनष्ट करता जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१३५॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से,
रे ! मान मर्दन करो तुम नम्रता से।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया,
संतोष में रति करो, तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यों देह में सकल अंग उपांगकों को,
लेता समेट कछुआ, लख संकटों को।
मेधाविलोग अपनी सब इन्द्रियों को,
लेते समेट निज में भजते गुणों को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश भी कुछ ना दिखाई,
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई।
सद्यः उसी समय ही उसको मिटाओ,
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्मरथ को रुचि से चलाता,
है ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगाता।
आराम-धर्ममय जो जिसको सुहाता,
धर्मानुकूल विचरे मुनि मोद पाता ॥१३९॥

११. अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्यभाषी।
संसार को 'जड़' परिग्रह को बताया,
यों संग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ़ ले परम संयम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी।
अत्यन्त दुःख सहता भव में डुलेगा,
तो मुक्तिद्वार अवरुद्ध नहीं खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को हटाता,
है ब्रह्म के सब परिग्रह को मिटाता।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है,
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व, वेदत्रय, हास्य विनाशकारी,
ग्लानी रति, अरति शोक, कुभीति भारी।
ये नोकषाय, नव, चार कषायियां हैं,
यों भीतरी जहर चौदह ग्रंथियां हैं॥१४३॥

ये खेत, धाम, धन धान्य अपार राशि,
शय्या, विमान; पशु, बर्तन दासदासी।
नाना प्रकार पट, आसन पंक्तियां रे,
ये बाहरी जड़मयी दस ग्रंथियां रे॥१४४॥

अत्यन्त शान्त गत क्लान्त नितान्त चंगा,
हो अंतरंग, बहिरंग, निसंग नंगा।
होता सुखी पतत है जिस भांति योगी,
चक्री कहां वह सुखी उस भांति भोगी॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता।
त्यों संग त्याग बिन ही, सब इन्द्रियां रे,
आती कभी न वश में, तज ग्रंथियां रे॥१४६॥

१२. अहिंसा सूत्र

ज्ञानी तभी तुम सभी सहसा बनोगे,
संपूर्ण प्राणिवध को जब छोड़ दोगे।
है साम्य धर्म वह है जिसमें न हिंसा,
विज्ञान संभव कभी न, बिना अहिंसा॥१४७॥

है चाहते जबकि ये जग जीव जीना,
होगा अभीष्ट किसको फिर मृत्यु पाना?
यों जान, प्राणिवध को मुनि शीघ्र त्यागे,
निर्ग्रन्थ रूप धरके, दिन-रात जागे॥१४८॥

हे जीव ! जीव जितने जग जी रहे हैं,
विख्यात वे सब चराचर नाम से हैं।
निर्ग्रन्थ साधु बन, जान अजान में ये,
मारे कभी न उनको, न कभी मरायें ॥१४९॥

जैसा तुम्हें दुःख कदापि नहीं सुहाता,
वैसा अभीष्ट परको दुःख हो न पाता।
जानो उन्हें निज समान, दया दिखाओ,
सम्मान मान उनको मन से दिलाओ ॥१५०॥

जो अन्य जीव वध है वध ओ निजी है,
भाई यही परदया, स्वदया रही है।
साधू स्वकीय हित को जब चाहते हैं,
वे सर्व जीव वध निश्चित त्यागते हैं ॥१५१॥

तू है जिसे समझता वध योग्य बैरी,
तू ही रहा 'वह' अरे ! यह भूल तेरी।
तू नित्य सेवक जिसे बस मानता है,
तू ही रहा 'वह' जिसे नहि जानता है ॥१५२॥

रागादि भाव उठना वह भाव हिंसा,
होना अभाव उनका समझो अहिंसा।
त्रैलोक्य पूज्य जिन ने हम को बताया ?
कर्त्तव्य मान निज कार्य किया कराया ॥१५३॥

कोई मरो मत मरो, नहिं बंध नाता,
रागादि भाव वश ही द्रुत कर्म आता।
शास्त्रानुसार नय निश्चय नित्य गाता,
यो कर्म-बन्ध विधि है, हमको बताता ॥१५४॥

है एक हिंसक तथैक असंयमी है,
कोई न भेद उनमें कहते यमी है,
हिंसा निरंतर नितान्त बनी रहेगी,
भाई जहां जब प्रमाद-दशा रहेगी ॥१५५॥

हिंसा नहीं, पर उपास्य बने अहिंसा,
ज्ञानी करें सतत ही जिस की प्रशंसा।
ले लक्ष कर्मक्षय का बन सत्यवादी,
होता अहिंसक वही मुनि अप्रमादी ॥१५६॥

हिंसा मदीय यह आतम ही अहिंसा,
सिद्धान्त के वचन ये कर लो प्रशंसा।
ज्ञानी अहिंसक वही मुनि अप्रमादी,
हां सिंह से अधिक हिंसक हो प्रमादी ॥१५७॥

उत्तुंग मेरु गिरि सा गिरि कौन सा है ?
निस्सीम कौन जगमें इस व्योम-सा है ?
कोई नहीं परम धर्म बिना अहिंसा,
धारो इसे विनय से तज सर्व हिंसा ॥१५८॥

देता तुझे अभय पार्थिव शिष्य प्यारा,
तू भी सदा अभय के जगको सहारा।
क्या मान तू कर रहा दिन रैन हिंसा,
संसार तो क्षणित है भज ले अहिंसा ॥१५९॥

१३. अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबलौं इसको न पाना,
मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना।
ऐसा प्रमाद करते नहिं सोचना है,
आ जाय काल कब ओ नहिं सूचना है ॥१६०॥

संसार में कुछ न सार असार सारे,
है सारभूत समता दिक्-द्रव्य प्यारे।
सोए हुए पुरुष ये बस सर्व खोते,
जो जागते सह जिसे विधि पंक धोते॥१६१॥

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ 'जागरण' धार्मिक सज्जनों का।
यों वत्स देश नृप की अनुजा 'जयन्ती',
वाणी सुनी जिनप की वह शीलवन्ती॥१६२॥

सोया हुआ जगत में बुध नित्य जागे,
जोगे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे।
है काल 'काल' तन निर्बल ना विवाद,
भारण्ड से तुम अतः तज दो प्रमाद॥१६३॥

धाता अनेकविध आस्रव का प्रमाद,
लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेता,
होता प्रमाद वश मानव मूढ़ नेता॥१६४॥

मोही प्रवृत्ति करते नहिं कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते, मन मैल धोते।
धीमान धीर धरते, धरते न लोभ,
ना पाप ताप करते, करते न क्षोभ॥१६५॥

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोते स्वकीय पद को दिन रैन रोते।
योगी करे न भय नो बन अप्रमत्त,
वे मस्त व्यस्त निज में निज दत्तचित्त॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रैन सोता।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है,
कैसे बने 'सदय' हिंसक तामसी है॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा।
वे धन्य हैं सतत जाग्रत जो रहे हैं,
जो सो रहे अधम हैं विष पी रहे हैं॥१६८॥

है देख, भाल, चलता उठता, उठाता,
शास्त्रादि वस्तु रखता, तन को सुलाता।
है त्यागता मल, चराचर को बचाता,
योगी अहिंसक दयालु वही कहाता॥१६९॥

१४. शिक्षा सूत्र

पाते नहीं अविनयी सुख सम्पदायें,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा,
ज्ञानी बनो सहज, पाकर उच्च शिक्षा॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मन क्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तन में कुछ रोग आना।
आलस्यकानुभव, ये जब पंच होते,
शिक्षा मिले न हम बालक सर्व रोते॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरंजन त्याग देना,
होना सुशील, मन-इन्द्रिय जीत लेना।
क्रोधी कभी न बनना, बनना न द्रोषी,
ना झूलना विषय में न असत्य-पोषी॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी,
ऐसा सदैव कहते गुरु आत्मवेदी।
आजाय आठ गुण जीवन में किसी के,
विद्या निवास करती मुख में उसी के॥१७३॥

सिद्धान्त के मनन से मन-हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता।
जो धर्मनिष्ठ बनता, पर को बनाता,
सद्बोधरूप सर में डुबकी लगाता॥१७४॥

संसार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद् ध्यान से तप तपो दृग पूर्ण खोलो।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढ़ोगे,
सद्यः सभी श्रुत विशारद जो बनोगे॥१७५॥

जाज्वल्यमान इक दीपक से अनेकों,
है शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो।
आचार्य दीप सम है तमको मिटाते,
आलोक-धाम हमको सहसा बनाते॥१७६॥

१५. आत्म सूत्र

तत्वों, पदार्थ-निचयों, जड़ वस्तुओं में,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहां सबों में।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले उसका सहारा॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरंतरात्मा,
आदेय है परम आतम है महात्मा।
दो भेद हैं परम आतम के सुजानो,
हैं बीतराग 'अरहन्त' सुसिद्ध मानो॥१७८॥

मैं हूं शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम है कहाता।
चैतन्य धाम मुझसे, तन है निराला,
यो अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी,
सर्वज्ञदेव अरहन्त शरीर धारी।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन में बसे हैं,
सारे अनन्त सुख से सहसा लसे हैं ॥१८०॥

वचकाय से मनस से ऋषि सन्त सारे,
वे हेय जान बहिरात्मपना बिसारे।
हां अंतरात्मपन को रुचि से सुधारे,
प्रत्येक काल परमातम को निहारे ॥१८१॥

संसार चंक्रमण ना कुलयोनियां हैं,
ना रोग, शोक, गति जाति-विजातियां हैं।
ना मार्गना न गुणथानन की दशायें,
शुद्धात्म में जनम मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

संस्थान, संहनन, ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण स्पर्श, रसगंध विकार भाई।
ना तीन वेद, नहि भेद, अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियां व्यवहार से है,
जो भी यहां दिख रहे जग में तुझे है।
पै सिद्ध के सदृश्य हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त हैं अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गतदोष अयोग योगी,
निश्चिन्त है निडर है निखिलोपयोगी।
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह से रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

संतोष-कोष, गतरोष, अदोष ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

न अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध शुद्धनय से मद-मान मुक्त।
ज्ञाता वही सकल ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूं ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊं नहीं कारण भी उनका न मानी।
कर्त्ता न कारक न हूं अनुमोद-दाता,
धाता स्वकीय गुण का, परसे न नाता ॥१८९॥

स्वामी जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है।
ओ क्या कदापि पर को अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मूढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मैं एक, शुद्धनय से दृग बोध स्वामी,
हूं शुद्ध, बुद्ध, अविरुद्ध अबद्ध नामी।
निर्मोह भाव करता निजलीन होऊं,
शुद्धोपयोग-जल से विधि पंक धोऊं ॥१६१॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

दोहा

'ज्योतिर्मुख' को नित नमूं छूटे भव-भव-जेल।
सत्ता मुझको मम दिखे ज्योति ज्योति का मेल॥

१६. मोक्षमार्ग सूत्र

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
'सन्मार्ग' मार्ग फल को निज ने बताया।
'सम्यक्त्व मार्ग' जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही सुख दे अपारा ॥१६२॥

चरित्र बोध दृग है शिवपंथ प्यारा,
ले लो अभी तुम सभी इसका सहारा।
तीनों सराग जब लौं कुल बन्ध नाता,
ये वीतराग बनते, शिव पास आता ॥१६३॥

धर्मानुराग सुख दे, दुःख मेट देता,
ज्ञानी प्रमाद वश यों यदि मान लेता।
अध्यात्म से पतित हो पुनि पुण्य पाता,
होता विलीन पर में, निज को भुलाता ॥१६४॥

भाई ! अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले,
ले लें भले हि तप, संयम गीत गालें।
और गुप्तियां समितियां कुल शील पाले,
पाते न बोध दृग ना बनते उजाले ॥१६५॥

जानो न निश्चय तथा व्यवहार धर्म,
बांधों सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म।
सारी क्रिया विथत हो कुछ भी करो रे,
जन्मो, मरो, भ्रमित हो भाव में फिरो रे।।१९६।।

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति।
चाहें अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना।।१९७।।

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा,
है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा।
है निर्विकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे, सुख शान्ति धारा।।१९८।।

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
संसार को बस अवश्य बढ़ा रहा है।
हो पुण्य से सुगति, पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा।।१९९।।

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभ भाव कुशील खारा।
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव मुझे न भाता।।२००।।

दो बेड़ियां, कनक की एक लोह की है,
जो एक सी पुरुष को कस बांधती है।
हां ! कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवे,
त्यों बांधते नियम से जड़ जीव को वे।।२०१।।

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील, त्यागी,
संसर्ग राग इन का तज नित्य जागी।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा,
स्वाधीनता विनशती, दुःख ही सहेगा ।।२०२।।

अच्छा व्रतादिक तया सुरसौख्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त अन्तर व्रताव्रत में रहा है,
छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है।।२०३।।

चक्री बनो सुकृत से, सरसम्पदायें,
लक्ष्मी मिले, अमित दिव्य विलासतायें।
पै पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा,
सम्यक्त्व हां !न मिलता सुख का पिटारा ।।२०४।।

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते,
वे देव अवनिपे नर योनि पाते।
भोगोपभोग गह, जीवन है बिताते,
यों पुण्य का फल हमें गुरु हैं बताते।।२०५।।

वे भोग, भोग कर भी नहिं फूलते हैं,
मक्खी समा विषय में नहिं झूलते हैं।
संस्कार हैं विगत के जिससे सदीव,
आत्मानुचिंतन सुधी करते अतीव।।२०६।।

पाना मनुष्य भव को जिनदेशना को,
श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को।
वे जान दुर्लभ इन्हें बुधलोक सारे,
काटे कुकर्म मुनि हो शिव को पधारें ।।२०७।।

१७. रत्नत्रय सूत्र

(अ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहीं से,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्ष मार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध-दर्शन से लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता।
चरित्र धार विधि आस्रवरोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निजको तप से बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा,
सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा।
होता न संयम बिना तप कार्य कारी,
ज्ञानादि रत्न त्रय है भवदुःखहारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिनाना,
होते न ज्ञान बिन मित्र चरित्र नाना।
चारित्र के बिन न हो शिवमोक्ष पाना,
तो मोक्ष के बिन कहां सुख का ठिकाना ? ॥२११॥

हां ! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है,
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है।
पंगु लखें अनल को न बचे कदापि,
दौड़े भले हि वह अन्ध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले, फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथ को, चल वो न पाता।
होवे परस्पर सहायत पंगु अन्धा,
दावाग्नि से बच सके कहते जिनंदा ॥२१३॥

(आ) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समय सार सुधा-सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा।
होता वही दृगमयी बर बोध-धाम,
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र, दृग बोध समेत पालें,
आत्मा उन्हें समझ, आतम गीत गालें।
ज्ञानी नितान्त निज में निजको निहारे,
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्न त्रय में रत लीन होना,
धोना कषाय मल को, बनना सलोना।
स्वीकार करना न करना तजना किसी को,
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजातम लीन आत्मा,
विज्ञान है समझना निजको महात्मा।
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही, अयि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी लसता ललाम।
है त्यागरूप, सुखकूप, अनूप, भूप,
ना नेत्र का विषय है नित है अरूप ॥२१८॥

१८. सम्यक् दर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार-सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रत्नत्रय में वर मुख्य नामी,
है मूल, मोक्षतरुका, तज काम कामी।
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते द्विभेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्त्वार्थ में रुचि भली भवसिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू।
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही,
ऐसा जिनेश कहते शिव राहराही ॥२२०॥

कोई न भेद, दृग में मुनि मौन में है,
माने इन्हें सुबुध 'एक' यथार्थ में है।
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु,
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो, अचल मेरु बनो तपस्वी,
वर्षों भले तप करो, बनके यशस्वी।
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम बोधि पाओ,
संसार में भटकते दुःख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो है,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को है।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे,
पै भ्रष्ट दर्शन तया नहिं वे सिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता,
निर्वाण पा, अमर हो, चिर काल जीता।
मिथ्यात्वरूप मद पान अरे, करेगा,
होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यन्त श्रेष्ठ, दृग ही जग में सदा से,
माना गया जड़मयी सब संपदा से,
तो मूल्यवान, मणि से कब 'कांच' होता ?
स्वादिष्ट इष्ट, घृत से कब छाछ होता ? ॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे हैं,
तल्लीन आत्म सुख में नित जो रहे हैं।
सम्यक्त्व का सुफल केवल जो रहा है,
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है ॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृगमंजु पत्र,
हो नीर में न सड़ता रहता पवित्र।
त्यों लिप्त हो विषय से न, मुमुक्षु प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारें विराग दृग हो जिन धर्म पाके,
होते उन्हें विषय, कारण निर्जरा के।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से,
साधू सुधी न बंधतें विधि-बंधनों से ॥२२८॥

वे भोग, भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी,
कर्त्ता कथं फिर बनें ? उनको विरागी ॥२२९॥

थे काम भोग न तुम्हें समता दिलाते,
भाई विकार तुम में न कभी जगाते।
चाहो इन्हें, यदि डरो, इनसे जभी से,
पाओ अतीव दुःख को सहसा तभी से ॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

वे अष्ट अंग दृग के, विनिशंकिता है,
निःकांक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को,
धारो 'स्थितिकरण वत्सल' भावना को ॥२३१॥

निःशंक हो निडर हो सम-दृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गाले।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
है भीति ही स्वयम हो भयभीत रोती ॥२३२॥

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में,
धर्मो-पदार्थ दल के विधि के फलों में।
होता वही मुनि निकांक्षित अंगधारी,
वन्दूं उन्हें बन सकूं द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वंदन जो न चाहें,
ओ क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहें?
हो संयमी यति व्रती निज आत्म खोजी,
हो भिक्षु तापस वही उसको नमोजी ॥२३४॥

हे 'योगियो' यदि भवोदधि पार जाना,
चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना।
क्यों ख्याति लाभ निज पूजन चाहते हो?
यों मोक्ष लाभ उनसे तुम मानते हो? ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
सारे सदा परिणमे निज में यथार्थ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलतः किसी से,
धारें तृतीय दृग अंग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध, मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़ दृष्टि,
नासाग्र-दृष्टि रख, नाशत कर्म सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोध दृग से निज को सजाओ,
धारो क्षमा, तप तपो विधि को खपाओ।
माया-विमोह ममता तज मार मारो,
हो वर्द्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नहीं दिखाओ।
भाई किसी सुबुध की न हंसी उड़ाओ,
आशीश दो न पर को, पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो,
तत्काल योग त्रय से उनको समेटो।
औचित्य अश्व जब भी पथ भूलता हो,
ले लो लगाम कर में अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे 'भव्य गौतम' भवोदधि तैर पाया,
क्यों व्यर्थ ही रुक गया, तट पास आया।
ले ले छलांग झट से अब तो धरा पै,
आलस्य छोड़, वरना दुःख ही वहां पै ॥२४१॥

श्रद्धा समेत चलते बुध धार्मिकों की,
सेवा सुभक्ति करते उनको गुणों की।
मिश्री मिले वचन जो नित बोलते हैं,
वात्सल्य अंग धरते, दृग खोलते हैं ।२४२॥

योगी, सुयोग रत हो गिरि हो अकम्पा,
धारो सनैव उर जीव दया अनुकम्पा।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना दो,
ऐसा करो कि जिन धर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

वादी सुतापस निमित्त सुशास्त्रज्ञ ज्ञाता,
श्री सिद्धिमान, वृष के उपदेश दाता।
विद्या विशारद, कवीश विशेष वक्ता,
होता प्रचार इनसे वृषका महत्ता ॥२४४॥

१६. सम्यक् ज्ञान सूत्र

सत्‌शास्त्र को सुन, हिताहित बोध पाओ,
आदेय हेय समझो, सुख चूंकि चाहो।
आदेय को झट भजो, तज हेय भाई,
इत्थन हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

आदेश, ज्ञान प्रभु का शिव पंथ पंथी,
पाके स्व में विचरते, तज सर्वग्रंथि।
सम्यक्त्व योग तप संयम ध्यान धारे,
काटें कुकर्म, निज जीवन को सुधारे ॥२४६॥

ज्यों ज्यों श्रुताम्बुनिधि में डुबकी लगाता,
त्यों त्यों व्रती बन नवीन प्रमोद पाता।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुत भावना हो,
श्रद्धान हो दृढ़ नहीं फिर वासना हो ॥२४७॥

सूची भलेहि कर से गिर भी गई हो,
खोती कभी न, यदि डोर लगी हुई हो।
साधू ससूत्र यदि हो, श्रुत बोध वाला,
होता विनष्ट भव में न रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता,
वक्ता कवि विविध वाङ्मय वेद वेत्ता।
आराधना यदि न-ही दृग की करोगे,
तो बार बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि न ही लखेगा।
होगा विशारद जिनागम में भले ही,
आत्मा त्वदीय दुःख से भव में रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्वपात्र किस भांति अहो बनेगा।
आचार्य देव कहते बन वीत रागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्त्वावबोध सहसा जिससे जगेगा,
'चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होता वही विमल 'ज्ञान' स्वसौख्य देगा ॥२५२॥

माहात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी, विराग बनता तज राग खारा।
मैत्री सदैव जग से रखता सुचारा,
शुद्धात्म में विचरता, सुख पा अपारा ॥२५३॥

आत्मा अनन्त, नित, शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से, विधि बन्धनों से।
ऐसा निरन्तर निजातम देखते हैं,
वे ही समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

हूं काय से विकल, केवल केवली हूं,
हूं एक हूं विमल ज्ञायक हूं बली हूं।
जो जानता स्वयं को इस भांति स्वामी,
निर्भ्रान्ति हो वह जिनागम पारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निज को विशुद्ध,
जाने, बनें सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध।
रागी स्वको समझ राग मयी विचारा,
होता न मुक्त भव से दुःख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानते मुनि निजातम को यदा है,
वे जानते नियम से पर को तदा है।
है जानना स्वपर को इक साथ होता,
ऐसा जिनागम रहा, दुःख सर्व खोता ॥२५७॥

जो एक को सहज से मुनि जानते हैं,
वे सर्व को समझते जब जागते हैं।
यों ईश का सदुपदेश सुनो हमेशा,
संक्लेश द्वेष तज शीघ्र बनो महेशा ॥२५८॥

सद्बोध रूप सर में डुबकी लगाले,
संतप्त तू स्नपित हो सुख तृप्ति पालें।
तो अन्त में बल अनन्त ज्वलंत पाके,
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहे हैं,
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे हैं।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है,
संमोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यों वित्त बांट स्वजनों नहिं दूसरों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में।
पा नित्य-ज्ञान निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी,
त्यों हो सुखी, न रमता पर में अमानी ॥२६१॥

२०. सम्यक्चारित्र सूत्र

(अ) व्यवहार चारित्र

होते सुनिश्चय-नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप।
पै व्यावहार-नय-आश्रित ना स्वरूप,
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभ को शुभ को निभाना,
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना।
ये गुप्तियां समितियां व्रत आदि सारे,
जाते सदैव व्यवहार तया पुकारें ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से शिर ना सजोगे,
आरूढ़ संयममयी रथ पै न होगे।
स्वाध्याय में रत रहो तुम तो भले ही,
ना मुक्ति मंजिल मिले, दुःख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित ज्ञान नहीं विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चलो, न मिले न धाम।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात,
पाता न पोत तट को वह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र शून्य नर जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसकी वृथा है।
अन्धा कदापि कुछ भी जब न लखेगा,
जाज्वल्यमान कर दीपक क्या करेगा ? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्हों का,
जो संयमी, सतत ध्यान धरूं उन्हीं का।
सागार का बहुत भी श्रुत 'बोध' भारा,
चारित्र को न जिसने उस से सुधारा ॥२६७॥

(आ) निश्चयचारित्र

आत्मार्थ आतम निजातम में समाता,
सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता।
हे भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो,
पालो अपूर्व पद को, निज को दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझ के परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता, धर योग योगी।
ओ निर्विकल्प मय चारित्र है कहाता,
मेरे समा विकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा।
तो वीतराग मय चरित्र से गिरेगा,
संसार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
शुद्धात्म में विचरता जब साधु चंगा।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप से तन को तपाना,
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना।
हे मित्र ! बाल तप संयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो, मास मास उपवास करे रुचि से,
अत्यल्प भोजन करे न डरें किसी से।
पै आत्म बोध बिन मूढ़ व्रती बनेगा,
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं।
मोहादि से रहित आतम भाव प्यारा,
माना गया समय में शम साम्य सारा ।।२७४।।

माध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव,
चारित्र धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव।
आराधना स्वयं की पद सात सारे,
है भिन्न भिन्न, पर आशय एक धारें ।।२७५।।

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतराग व्रत संयम में यशस्वी।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा,
शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा ।।२७६।।

शद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु,
निर्वाण, सिद्धि, शिव भी उसको हि जानूं।
मानूं उसे श्रमणता मन में विठालूं,
वंदूं उसे नित नमूं निज को जगालूं ।।२७७।।

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते,
स्वात्मोत्थ सातिशय शाश्वत सौख्य जोते।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी,
अन्यत्र छोड़ जिसको सुख न कहीं भी ।।२७८।।

वे मोह राग-रति-रोष नहीं किसी से,
धारें सुसाम्य सुख में दुःख में रुचि से।
होके बुभुक्षु नहिं, भिक्षु मुमुक्षु होके,
आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोके ।।२७९।।

(इ) समन्वय

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता,
होता सराग व्रत साधन, साध्य दाता।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
संपूर्ण बोध मिलता, शिव को पधारो ॥२८०॥

ज्यों भीतरी कलुषता मिटती चलेगी,
त्यों बाहरी विमलता बढ़ती बढ़ेगी।
देही प्रदोष मन में रखता जभी है,
हा ! बाह्यदोष सहसा करता तभी है ॥
रे पंक भीतर सरोवर में रहा है,
जो बाह्य में जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

मायाभिमान मद मोह विहीन होना,
है भाव शुद्धि, जिससे शिव सिद्धि लोना।
आलोक से सकल लोक आलोक देखा,
यों वीर ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२८२॥

जो पांच पाप तज, पावन पुण्य पाता,
हो दूर भी अशुभ से शुभ को जुटाता।
रागादि भाव फिर भी यदि न तजेगा,
शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को शुभ से मिटाओ,
शुद्धोपयोग बल से शुभ को हटाओ।
ऐसा अनुक्रमण से कर कार्य योगी,
ध्याओ निजात्म-जिनको, सुख शांति होगी ॥२८४॥

चारित्र नष्ट, जब हो, दृग बोध पाते,
जाते सुनिश्चय सही रह वे न पाते।
हो या न हो, विलय पै दृग बोधरक्त रे,
जावे चारित्र, मत यों व्यवहार का रे ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुर पुरी सम जो सजाओ,
ताला वहां सुतप संवर का लगाओ।
पाताल गामिनि क्षमामय खातिका हो,
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६॥

औ धैर्य से धनुष-त्यागमयी सुधारो,
सद्ध्यान बाण बल से विधि को विदारो।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश,
होवो विमुक्त भव से, जगदीश धीश ॥२८७।

२१. साधना सूत्र

उद्बोध प्राप्त करलो गुरु गीत गालो,
जीतो क्षुधा विषय से मन को बचालो।
निद्राजयी बन दृढ़ासन को लगा लो,
पश्चात् सभी तुम निजातम ध्यान पालो ॥२८८॥

संपूर्ण ज्ञान-मय-ज्योति-शिखा जलेगा,
अज्ञान मोह तम पूर्ण तभी मिटेगा।
हो नष्ट, राग रति रोषमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती प्रणाली ॥२८९॥

दुःसंग से बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वास करना, धृतिधार लेना।
सूत्रार्थ चिंतन तथा गुरु वृद्ध सेवा,
ये ही उपाय शिव के, मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
साथी, व्रती श्रमण या बुध को बनाना।
एकान्त वास करना, भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते,
क्या वैद्य औषध उन्हें कुछ काम देते ?
ना गृद्धता अशन में रखते न लिप्सा,
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२६२॥

प्रायः अतीव रस सेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलती उससे विकारी।
पक्षी समूह, फल फूल लदें द्रुमों को,
ज्यों कष्ट दें, मदन त्यों विषयी जनों को ॥२६३॥

जो सर्व-इन्द्रिय जयी, मित भोज पाते,
एकान्त में शयन आसन भी लगाते।
रागादि दोष, उनको लख कांप जाते,
पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२६४॥

आ, व्याधियां न जबलौं तुमको सताती,
आती जरा न जब लौं तन को सुखाती।
ना इन्द्रियां शिथिल हो जब लौं तुम्हारी,
धारो स्वधर्म तब लौं शिव सौख्य कारी ॥२६५॥

२२. द्विविध धर्म

सन्मार्ग है 'श्रमण' श्रावक' भेद से दो,
उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो।
मृत्युंजयी अजर है अज है बली है,
ऐसा सदा कह रहे जिन केवली हैं ॥२६६॥

'स्वाध्याय' ध्यान यति धर्म प्रधान जानो,
भाई बिना न इनके यति को न मानो।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा,
ऐसा करें न, वह श्रावक है न दूजा ॥२६७॥

होता सुशोभित पदों अपने गुणों से,
साधू सुसंस्तुत वही सब श्रावकों से।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारे,
सागार श्रेष्ठ उनसे गृहधर्म पारे ॥२६८॥

कोई प्रलोभ वश साधु बना हुआ हो,
पै शक्ति हीन व्रत पालन में रहा हो।
तो श्रावकाचरण ही करता कराता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२६६॥

श्री श्रावका चरण में व्रत पंच होते,
हैं सात शील व्रत ये विधि पंक होते।
जो एक या इन व्रतों सबको निभाता,
है भव्य श्रावक वही जगमें कहाता ॥३००॥

२३. श्रावक धर्म सूत्र

चारित्र धारक गुरो, करुणा दिखा दो,
चारित्र का विधि, विधान हमें सिखा दो।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणी,
चारित्र धारण करें सुन सन्त वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते,
भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते।
वे भव्य दार्शनिक श्रावक नाम पाते,
धीमान धार दृग को निज धाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशील खोरी,
अत्यन्त क्रूरतम दंड, शिकार, चोरी।
भाई असत्य मय भाषण द्यूत क्रीड़ा,
ये सात हैं व्यसन दें दिन-रैन पीड़ा ॥३०३॥

है मांस के अशन से मति दर्प छाता,
तो दर्प से मनुज को मद पान भाता।
है मद्य पीकर जुवा तक खेल लेता,
यों सर्व दोष करके दुःख मोल लेता ॥३०४॥

रे मांस के अशन से जब व्योम गामी,
आकाश से गिर गया वह विप्रः स्वामी।
ऐसी कथा प्रचलिता सबने सुनी है,
वे मांस भक्षण अतः तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्यपान करते, मदमत्त होते,
वे निन्द्य कार्य करते दुःख बीज बोते।
सर्वत्र दुःख सहते दिन रैन रोते,
कैसे बनें फिर सुखी जिन धर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरु सम जो जिन भक्ति न्यारी,
जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी।
वे शल्य हीन बनते रहते खुशी से,
निश्चिन्त हो निडर ना डरते किसी से ॥३०७॥

संसार में विनय की गरिमा निराली,
है शत्रु मित्र बनता, मिलती शिवाली।
धारें अतः विनय श्रावक भव्य सारे,
जावें सुशीघ्र भववारिधि के किनारे ॥३०८॥

हिंसा, मृषावचन, स्तेय कुशीलता ये,
मूर्च्छा परिग्रह इन्हीं बश हो व्यथायें।
हैं पंच पाप इनका इक देश त्याग,
होता अनुव्रत, धरें जग जाय भाग ॥३०९॥

हो बंध, छेद वध निर्बल प्राणियों का,
संरोध अन्न जल पाशव मानवों का।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिंसा,
जो एक देश व्रत पालक हो अहिंसा॥३१०॥

भू गो सुता-विषय में न असत्य लाना,
झूठी गवाह, न धरोहर को दबाना।
यों स्थूल सत्य व्रत है यह पंच धारें,
मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि संग धारें॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो, सहसा न बोलो,
स्त्री का रहस्य अथवा पर का न खोलो।
ना कूट लेखन लिखो, कुटलायता से,
यों स्थूल सत्य व्रत धार, बचो व्यथा से॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना 'कर' ना चुराना,
ले चौर्य द्रव्य नहिं चोरन को लुभाना।
धंधा मिलावट करो न, अचौर्य पालो,
हां नापतोल नकली न कभी चलालो॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते अविकारता से,
क्रीड़ा अनंग करते न निजी प्रिया से।
होते कदापि नहिं अन्य विवाह दोषी,
कामी अतीव बनते न, स्वदारतोषी॥३१४॥

निस्सीम संग्रह परिग्रह का विधाता,
है दोष का, बस रसातल में गिराता।
तृष्णा अनन्त बढ़ती सहसा उसी से,
उद्दीप्त ज्यों अनल दीपक तेल-घी से॥३१५॥

गार्हस्थ्य के उचित जो कुछ काम के हैं,
सागार सीमित परिग्रह को रखे हैं।
सम्यक्त्व धारक उसे न कभी बढ़ावे,
रागाभि भूत मनको न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर लिया परिमाण भाई,
लेऊं पुनः कुछ जरूरत जो कि आई।
ऐसा विचार तक ना तुम चित्त लाओ,
संतोष धार कर जीवन को चलाओ ॥३१७॥

हैं सात शील व्रत श्रावक भव्य प्यारे,
सातों व्रतों फिर गुणव्रत तीन न्यारे।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे,
आनर्थ दण्ड विरती इनको गुणो रे ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दशों दिशा में,
माना गया वह दिशाव्रत है धरा में।
आरम्भ सीमित बने इस कामना से,
सागार साधन करें इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिस देश में ही,
जाओ वहां मत कभी तुम स्वप्न में भी।
देशावकाशिक वही ऋषि देशना है,
धारो उसे विनशती चिर वेदना है ॥३२०॥

है व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थ दण्ड,
है चार भेद इसके अघ श्वभ्र कुण्ड।
हिंसोपदेश अति हिंसक शास्त्र देना,
दुर्ध्यान यान चढ़ना, नित मत्त होना।
होना सुदूर इनसे बहु कर्म खोना,
आनर्थ दण्ड विरती तुम शीघ्र लो ना ॥३२१॥

अत्यल्प बन्धन आवश्यक कार्य से हो,
अत्यन्त बन्ध अनवश्यक कार्य से हो।
कालादि क्योंकि इकमें सहयोगी होते,
पै अन्य में जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बको मत रखो अघ शस्त्र को भी,
तोड़ो न भोग परिमाण बनो न लोभी।
भद्दे कभी वचन भी हंसते न बोलो,
ना अंग व्यंग करते दृग मीच खोलो ॥३२३॥

है संविभाग अतिथिव्रत मोक्ष दाता,
भोगोपभोग परिमाण सुखी बनाता।
शुद्धात्म सामयिक प्रोषध से दिखाता,
यों चार शैक्ष्य व्रत हैं यह छन्द गाता ॥३२४॥

ना कन्द मूल फल* फूल** फलादि खाओ-
रे ! स्वप्न में तक इन्हें मन में न लाओ।
और क्रूर कार्य न करो न कभी कराओ,
आजीविका बन अहिंसक ही चलाओ।
यों कार्य का अशन का परिमाण बांधो,
भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साधो। ३२५॥

उत्कृष्ट, सामयिक से गृह धर्म भाता,
सावद्यकर्म जिससे कि विराम पाता।
यों जान मान बुध है अघ त्याग देते,
स्वात्मार्थ सामयिक साधन साध लेते ॥३२६॥

---

*पंच औदुम्बर फलों का त्याग।

**जिन फूलों से हिंसा अधिक व फल कम मिलता है उन फूलों का (नीम आदि) त्याग।

सागार सामयिक में मन ज्यों लगाता,
सच्चे सुधी श्रमण के सम साम्य पाता।
हे भव्य सामयिक को अत एव धारो,
भाई किसी तरह से निज को निहारो ॥३२७॥

आ जाय सामयिक में यदि अन्य चिंता,
जो आर्त ध्यान बनता दुःख दे तुरन्ता।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त,
संसार हो फिर भला किस भांति सान्त ? ॥३२८॥

संस्कार है न तन का न कुशीलता है,
आरम्भ ना अशन प्रोषध में तथा है।
तो पूर्ण त्याग इनका इक देश या लो,
धारो सुसामयिक, प्रोषध* पूर्ण पालो ॥३२९॥

दो शुद्ध अन्न यति को समयानुकूल**,
देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भूल।
तो संविभाग अतिथिव्रत ओ बनेगा,
रे! स्वर्गमोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार औ अभय औषध और शास्त्र,
ये चार दान जग में सुख पूर-पात्र।
दातव्य है अतिथि के अनुसार चारो,
सागार शास्त्र कहता, धनको बिसारो ॥३३१॥

सागार मात्र इक भोजन दान से भी,
लो धन्य धन्यतम हो धनवान से भी।
दुःपात्र पात्र इस भांति विचार से क्या ?
ले आम पेट भर ले, बस पेड़ से क्या ? ॥३३२॥

---

*जो पूर्ण प्रोषध करता है वह नियम से सामयिक करें।

**समय (आगम) के अनुकूल और समय (काल) के अनुकूल और समय-आत्मानुकूल।

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते,
भिक्षार्थ भिक्षुक वहां न कदापि जाते।
वे धीर वीर चलते समयानुकूल,
लेते न अन्न प्रतिकूल कदापि भूल ।।३३३।।

सागार जो अशन को मुनि को खिलाके,
पश्चात् सभी मुदित हो अवशेष पाके।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रम बार अवश्य पाते,
संसार में फिर कदापि न लौट आते ।।३३४।।

जो काल से डर रहे उनको बचाना,
माना गया अभयदान अहो सुजाना।
है चन्द्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे,
तो शेष दान उडु है पड़ जाए फीके ।।३३५।।

२४. श्रमण धर्म सूत्र

ये वीतराग अनगार भदंत प्यारे,
साधू ऋषी श्रमण संयत संत सारे।
शास्त्रानुकूल चलते हमको चलाते,
वन्दूं उन्हें विनय से शिर को झुकाते ।।३३६।।

गंभीर नीर निधि से, शशि से सुशान्त,
सर्वसहा अवनि से, मणि मंजु कान्त।
तेजोमयी अरुण से पशु से निरीह,
आकाश से निरवलम्बन ही सदीह ।।१।।

निस्संग वायु सम, सिंह समा प्रतापी,
स्थाई रहे उरग से न कहीं कदापि।
अत्यन्त ही सरल हैं मृग से सुडोल,
जो भद्र है वृषभ से गिरि से अडोल ।।२।।

स्वाधीन साधु गज सादृश स्वाभिमानी,
वे मोक्ष शोध करते सुन सन्त वाणी ।।३३७।।

है लोक में कुछ यहां फिरते असाधु,
भाई तथापि सब वे कहलाय साधु।
मैं तो असाधु-जन को कहता न साधु,
सत् साधु के स्तवन में मन को लगा दूं॥३३८॥

सम्यक्त्व के सदन हो वर बोधिधाम,
शोभे सुसंयमतया, तप से ललाम।
ऐसे विशेष गुण आकर हो सुसाधु,
तो बार-बार शिर मैं उनको नवाऊं॥३३९॥

एकान्त से, मुनि न कानन-वास से हो,
स्वामी नहीं श्रमण भी कचलोच से हो।
ओंकार जाप जप, ब्राह्मण ना बनेगा,
छालादि को पहन तापस ना कहेगा॥३४०॥

विज्ञान पा नियम से मुनि हो यशस्वी,
सम्यक्तया तप तपे तब हो तपस्वी।
होगा वही श्रमण जो समता धरेगा,
पा ब्रह्मचर्य फिर ब्रह्मण भी बनेगा॥३४१॥

हो जाय साधु गुण पा, गुण खो असाधु,
होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु।
जो राग रोष भर में समभाव धारे,
वे वन्द्य पूज्य निज से निज को निहारे॥३४२॥

जो देह में रम रहें विषयी कषायी,
शुद्धात्म का स्मरण भी करते न भाई।
वे साधु होकर बिना दृग जी रहे हैं,
पीयूष त्याग कर हा! विष पी रहे हैं॥३४३॥

भिक्षार्थ भिक्षु चलते बहु दृश्य पाते,
अच्छे, बुरे श्रवण में कुछ शब्द आते।
वे बोलते न फिर भी सुन मौन जाते,
लाते न हर्ष मन में न बिषाद लाते ॥३४४॥

स्वाध्याय ध्यान तप में अति मग्न होते,
जो दीर्घ काल तक है निशि में न सोते।
तत्त्वार्थ चिन्तन सदा करते मनस्वी,
निद्राजयी इसलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अंग संग रखते ममता नहीं है,
हैं संग मान तजते समता धनी हैं।
हैं साम्य दृष्टि रखते सब प्राणियों में,
वे साधु धन्य, रमते नहिं गारवों में ॥३४६॥

जो एक से मरण जीवन को निहारे,
निन्दा मिले यश मिले समभाव धारे।
मानापमान-सुख दुःख समान मानें,
वे धन्य साधु; सम लाभ अलाभ जाने ॥३४७॥

आलस्य-हास्य तज शोक, अशोक होते,
ना शल्य गारव कषाय निकाय ढोते।
ना भीति बंधन निदान निधान होते,
वे साधु वन्द्य हमको, मन मैल धोते ॥३४८॥

हो अंतराग अथवा छिद जाय अंग,
भिक्षा मिलो, मत मिलो इकसार ढंग।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारें,
वे साधु ही बस! बसे उर में हमारे ॥३४९॥

है हेय भूत विधि आस्रव रोक देते,
आदेय भूत वर संवर लाभ लेते।
आध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा,
है साधु लीन निज में तज भोग सारा ॥३५०॥

जीतो सहो दृग समेत परीषहों को,
शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिकों को।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता,
ऐसा जिनेश कहते शिव पन्थ नेता ॥३५१॥

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो,
ना बार 'बार' दिन में इक बार खाओ।
ऐसा ऋषीश उपदेश सभी सुनाते,
जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना बनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ है, श्रमण के बिन साम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम संयत भाव धारो,
रे! ग्राम में नगर में कर दो विहारो।
संवेग शान्तिपथ पै गममान होवो,
होके प्रमत्त मत गोतम! काल खोओ ॥३५४॥

होगा नहीं जिन यहां, जिन धर्म आगे,
मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे।
हे भव्य गौतम! अतः भव धर्म पाया,
धारो प्रमाद पल भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

(अ) वेश-लिंग

हो बाह्य वेश न कदापि प्रमाण भाई,
देता जभी तक असंयत में दिखाई।
रे वेश को बदल के विष जो कि पीसा,
पाता नहीं मरण क्या रह जाय जीता॥३५६॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये,
शास्त्रादि साधक सुवेश अतः बनाये।
औ बाह्य संयम न, लिंग बिना चलेगा,
जो अंतरंग-यम-साधन भी बनेगा॥३५७॥

ये दीखते जगत में मुनि साधुओं के,
है वेश नैकविध भी गृहवासियों के।
वे अज्ञ मूढ़ जिनको जब धारते हैं,
है 'मोक्ष' मार्ग यह यों बस मानते हैं॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोल वाली,
बेकार नोट यह है नकली निराली।
हो कांच भी चमकदार सुरत्न जैसा,
ज्यों जौहरी परखता नहिं मूल्य पैसा।
पूर्वोक्त द्रव्य जिस भांति मृषा दिखाते,
है मात्र वेश उस भांति सुधी बताते॥३५९॥

है भाव लिंग वर मुख्य अतः सुहाता,
है द्रव्य लिंग परमार्थ नहीं कहाता।
है भाव से नियम से गुण दोष-हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु सेतू॥३६०॥

ये 'भाव शुद्धतम हो' जब लक्ष्य होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
तो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाता॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
लेते न लाभ शिव का दुःख ही उठाते। ३६२॥

काषायिकी परिणती जिसने घटायी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटायी।
शुद्धात्म में निरत है तज संग संघी,
हो पूज्य साधु वह पावन भाव लिंगी॥३६३॥

२५. व्रत सूत्र

हिंसादि पंच अघ हैं तज दो अघों को,
पालो सभी परमपंच महाव्रतों को।
पश्चात् जिनोदित पुनीत विरागता का,
आस्वाद लो, कर अभाव विभावता का॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त सुसाधु धारे,
निःशल्य हो विचरते त्रय शल्य टारें।
मिथ्या निदान व्रतघातक शल्य माया,
ऐसा जिनेश उपदेश सुनो सुनाया॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा,
चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा।
तो मूढ़ भूल मणि जो अनमोल, देता,
धिक्कार कांच-मणि का वह मोल लेता॥३६६॥

जो जीव थान, कुल मार्गणा योनियों में,
पा जीव बोध, करुणा रखता सबों में।
आरंभ त्याग उनकी करता न हिंसा,
हो साधु का विमल भाव वहीं अहिंसा॥३६७॥

निष्कर्ष है परम पावन आगमों का,
भाई ! उदार उर धार्मिक आश्रयों का।
सारे व्रतों सदन है, सब सद्गुणों का,
आदेय है विमल जीवन साधुओं का।
वो विश्वसार जयवन्त रहे अहिंसा,
होती रहे सतत ही उसकी प्रशंसा ॥३६८॥

ना क्रोध भीति वश स्वार्थ तराजु तोलो,
लेओ न मोल अघ हिंसक बोल बोलो।
होगा द्वितीय व्रत सत्य वही तुम्हारा,
आनन्द का सदन जीवन का सहारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हें न लेते,
वे साधु देखकर भी बस छोड़ देते।
है स्तेय भाव तक भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥३७०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते,
साधू न भूलकर भी उनको उठाते।
ना दांत साफ करने तक सींक लेते,
अत्यल्प भी बिन दिये कुछ भी न लेते ॥३७१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जायं वहां न जाय,
जो स्थान वर्जित रहा अघ हो न पाय।
वे जायं जान कुल की मित भूमि लौं ही,
अस्तेय धर्म परिपालन श्रेष्ठ सो ही ॥३७२॥

अब्रह्म सेवन अवश्य अधर्म मूल,
है दोष धाम दुख दे जिस भांति शूल।
निर्ग्रन्थ वे इसलिए सब ग्रंथ त्यागी,
सेवे न मैथुन कभी मुनि वीतरागी ॥३७३॥

माता सुता बहन-सी लखना स्त्रियों को,
नारी-कथा न करना भजना गुणों को।
श्री ब्रह्मचर्य व्रत है यह सार हन्ता,
है पूज्य वन्द्य जग में सुख दे अनन्ता॥३७४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित भार ढोता।
है पांचवां व्रत 'परिग्रह त्याग' पाता,
पाता स्वकीय सुख, तू दुख क्यों उठाता ?॥३७५॥

दुर्गन्ध अंग तक 'संग' जिनेश गाया,
यों देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया।
क्षेत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो,
होके निरीह तन से तुम मार मारो॥३७६॥

जो मांगना नहिं पड़े गृहवासियों से,
ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्होंसे।
ऐसे परिग्रह रखें उपयुक्त होवे,
पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु ढोवें॥३७७॥

जो देह देश-श्रम काल बलानुसार,
आहार ले यदि यती करता विहार।
तो अल्प कर्म मलसे वह लिप्त होता,
औचित्य एक दिन है भव-मुक्त होता॥३७८॥

जो बाह्य में कुछ पदार्थ यहां दिखाते,
वे वस्तुतः नहिं परिग्रह हैं कहाते।
मूर्च्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ में है,
श्री वीर का सदुपदेश मिला हमें है॥३७९॥

ना संग संकलन संयत हो करो रे,
शास्त्रादि साधक सुचारु सदा धरो रे।
ज्यों संग की विहग ना रखते अपेक्षा,
त्यों संयमी समरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार-पान-शयनादिक खूब पाते,
पै अल्प में सकल कार्य सदा चलाते।
संतोष कोष, गतरोष अदोष साधु,
वे धन्य धन्यतर हैं शिर मैं नवा दूं ॥३८१॥

ना स्वप्न में, न मन में, न किसी दशा में,
लेते नहीं अशन वे मुनि है निशा में।
जिव्हाजयी जितकषाय जिताक्ष योगी,
कैसे निशाचर बनें बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरों से,
सूक्ष्मातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुओं से।
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों से,
कैसे बने अशन-शोधन साधुओं से? ॥३८३॥

२६. समिति-गुप्ति सूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन-माता

ईर्या रही समिति आद्य द्वितीय भाषा,
तीजी गवेषण धरे नश जाय आशा।
आदान निक्षेपण-पुण्यनिधान चौथा,
व्युत्सर्ग पंचम रही सुन भव्य श्रोता।
कायादि भेद बश भी त्रय गुप्तियां हैं,
ये गुप्तियाँ समितियां जननी समा हैं ॥३८४॥

माता स्वकीय सुतकी जिस भांति रक्षा,
कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा।
गुप्तादि अष्ट जननी उस भांति सारी,
रक्षा सुरत्नत्रय की करतीं हमारी॥३८५॥

निर्दोष से चरित पालन पोषणार्थ,
उल्लेखिता समितियां गुरु से यथार्थ।
ये गुप्तियां इसलिए गुरु ने बताईं,
काषायिकी परिणती मिट जाय भारे॥३८६॥

निर्दोष गुप्तित्रय पालक साधु जैसे,
निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैसे।
वे तो अगुप्ति भव-मानस मैल धोते,
ये जागते समिति-जात प्रमाद खोते॥३८७॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हंसा,
ना पालना समितियां बन जाय हिंसा।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा,
तू पालता समितियां पलती अहिंसा॥३८८॥

जो पालते समितियां, जब द्रव्य हिंसा,
होती रहे, पर कदापि न भाव हिंसा।
होती असंयमतया वह भाव हिंसा,
हो जीव का न वध पै बन जाय हिंसा॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते-कराते,
जो मात्र संयत, असंयत हैं कहाते।
पै अप्रमत्त मुनि धार द्विधा अहिंसा,
होते गुणाकर, करूं उनकी प्रशंसा॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता,
भाई तदा यदि मनो पर जीव जाता।
साधू तथापि नहिं है अघ कर्म पाता,
दोषी न हिंसक, अहिंसक ही कहाता ॥३६१॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो,
हिंसा प्रमाद भर को सहसा पिछानो।
अध्यात्म आगम अहो इस भांति गाता,
भव्यात्म को सतत शान्ति-सुधा पिलाता ॥३६२॥

ज्यों पद्मिनी वह सचिक्कण पत्रवाली,
हो नीर में न सड़ती रहती निराली।
त्यों साधु भी समितियां जब पालता है,
ना पापलिप्त बनता सुख साधता है ॥३६३॥

आचार हो समितिपूर्वक दुःख हर्त्ता,
है धर्म-वर्धक तथा सुख-शान्तिकर्त्ता।
है धर्म का जनक चालक भी वही है,
धारो उसे मुकति की मिलती मही है ॥३६४॥

आता यती चिरता, उठ बैठ, जाता,
हो सावधान तन को निशि में सुलाता।
औ' बोलता, अशन एषण साथ पाता,
तो पाप कर्म उसके नहिं पास आता ॥३६५॥

(आ) समिति

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो।
ले स्वीय कार्य कुछ पै दिन में चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥३६६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना,
स्वाध्याय पंच विधना करना कराना।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो,
ईर्या सही समिति है पलती तभी वो ॥३६७॥

हो जा रहे पशु यदा जल भोज पाने,
जाओ न संनिकट भी उनके सयाने।
हे साधु ! ताकि तुम से भय वे न पावे,
जो यत्र-तत्र भय से नहिं भाग जावे ॥३६८॥

आत्मार्थ या निजयार्थ परार्थ साधु,
निस्सार भाषण करे न स्वधर्म स्वादु।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्मभेदी,
भाषामयी समिति पालक आत्मवेदी ॥३६९॥

बोलो न कर्ण कटु निन्द्य-कठोर भाषा,
पावें न ताकि जग जीव कदापि त्रासा।
हो पाप बन्ध, वह सत्य कभी न बोलो,
घोलो सुधा न विष में, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना,
औ' चोर को कुटिल चोर नहीं बताना।
या रुग्ण को तुम न रुग्ण कभी कहो रे,
ना 'ना' नपुंसक नपुंसक को कहो रे ॥४०१॥

साधु करे न परनिन्दन आत्मशंसा,
बोले न हास्य-कटु-कर्कश-पूर्ण भाषा।
स्वामी करे न विकथा, मित मिष्ठ बोलें,
भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥४०२॥

हो स्पष्ट हो विशद संशय नाशिनी हो,
हो श्राव्य भी सहज हो सुखकारिणी हो।
माधुर्य-पूर्ण, मित, मार्दव-सार्थ-भाषा,
बोलें महामुनि, मिले जिससे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता,
साधू अयाचक यहां विरला दिखाता।
दोनों नितान्त द्रुत ही निज-धाम जाते,
विश्रान्त हो सहज में सुख-शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन उद्‌गम दोष हीन,
आवास अन्न शयनादिक लें, स्वलीन।
वे एषणा समिति साधक साधु न्यारे,
हो कोटिशः नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने बल-कान्ति पाने,
लेते नहीं अशन जीवन को बढ़ाने।
पै साधु ध्यान तप संयम बोध पाने,
लेते अतः अशन अल्प अये! सयाने ॥४०६॥

गाना सुना गुण गुणा षट् पदों का,
पीता पराग रस फूल-फलों दलों का।
देता परन्तु उनको न कदापि पीड़ा,
होता सुतृप्त, करता दिन रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाता यथा विधि यथा बल दान देते,
देते बिना दुःख उन्हें मुनिदान लेते।
यों साधु भी भ्रमर से मृदुता निभाते,
वे एषणा समिति पालक हैं कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रासुक भले, यदि अन्न लेते,
वे साधु, दोषमल में व्रत फूंक देते।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी,
शास्त्रानुसार यदि ले, नहिं दोषभागी ।।४०६।।

जो देख-भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना, गहना दया से।
आदान निक्षिपण है समिति कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ।।४१०।।

एकान्त हो विजन विस्तृत ना विरोध,
सम्यक् जहां बन सके त्रस जीव शोध।
ऐसा अचित थल पै मलमूत्र त्यागे,
व्युत्सर्गरूप समिती गह साधु जागे ।।४११।।

(इ) गुप्ति

आरम्भ में न समरम्भन में लगाना,
संसार के विषय से मन को हटाना।
होती तभी मनसगुप्ति सुमुक्ति दात्री,
ऐसा कहें श्रमण श्री जिन-शास्त्र-शास्त्री ।।४१२।।

आरंभ में न समरम्भन में लगाते,
सावद्य से वचन योग यती हटाते।
होती तभी वचन गुप्ति सुखी बनाती,
कैवल्य-ज्योति झट से जब जो जगाती ।।४१३।।

ना काय योग अघ-कर्दम में फंसाते,
आरम्भ में न समरम्भन में लगाते।
ओ कायगुप्ति, जड़काय विनाशती है,
विज्ञान पंकज-निकाय विकाशती है ।।४१४।।

प्राकार ज्यों नगर की करता सुरक्षा,
किंवा सुबाड़ कृषि की करती सुरक्षा।
त्यों गुप्तियां परम पंच महाव्रतों की,
रक्षा सदैव करती मुनि के गुणों की॥४१५॥

जो गुप्तियां समितियां नित पालते हैं,
सम्यक्तया स्वयम् को ऋषि जानते हैं।
वे शीघ्र, बोध बल दर्शन धारते हैं,
संसार सागर किनार निहारते हैं॥४१६॥

२७. आवश्यक सूत्र

हो भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने॥४१७॥

सद्ध्यान में श्रमण अन्तर धाम होके,
रागादि भाव पर है पर भाव रोके।
वे हो निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहें उन कार्य सारे॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती,
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती॥४१९॥

जो साधु हो न षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है॥४२०॥

सामायिकादि षडवश्यक सात पालें,
जो साधु निश्चय सुचारिता पूर्ण प्यारे।
वीतरागमय शुद्धचारित्र-धारी,
पूजो उन्हें परम उन्नति हो तुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान।
स्वाध्याय ये, चरित रूप गये न माने,
चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ॥३२२॥

संवेगधारक यथोचित्त शक्ति वाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पालें।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा,
श्रद्धान् तो दृढ़ रखें द्रुत मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामायिकं जिनप की स्तुति वन्दना हो,
कायोतसर्ग समयोचित साधना हो।
सच्चा प्रतिक्रमण हो अघप्रत्यख्यान,
पालें मुनीश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो ! कांच को कनक को सम ही निहारें,
वैरी सहोदर जिन्हें इकसार सारे।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते,
वे साधु सामयिक को उर धार लेते ॥४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मौन धारा,
औ' वीतराग बन आतम् को निहारा।
होती समाधि परमोत्तम ही उसीकी,
पूजूं उसे शरण और नहीं किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पालें,
है पंच इन्द्रियजयी समदृष्टि वाले।
स्थाई सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥४२७॥

है साम्यभाव रखते त्रस थावरों में,
स्थाई सुसामयिक हो उन साधुओं में।
ऐसे जिनेश मत है मत भूल रे! तू?
भाई! अगाध भव-वारिधि मध्य सेतु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन है उन गीत गाना,
लेना सुनाम उनके यश को बढ़ाना।
औ' पूजना नमन भी करना उन्हीं को?
होता जिनेश-स्तव है प्रणमूं उसी को ॥४२९॥

द्रव्यों थलों समयभाव प्रणालियों में,
है दोष जो लग गये, अपने व्रतों में।
वाक्काय से मनस से उनको मिटाने,
होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा,
ना साधु दोष करता अघ का न धन्धा।
होता प्रतिक्रमण भाव मयी वही है,
तो शेष द्रव्यमय है रुचते नहीं है ॥४३१॥

रागादि भावमल को मन से हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्म ध्याता।
सारी क्रिया वचन की तजता, सुहाता,
सच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर में अवगाह पाता,
सम्पूर्ण दोष मल को पल में धुलाता।
सद्ध्यान ही, विषम कल्मष पातकों का,
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणों का ॥४३३॥

है देह नेह तज के जिन गीत गाते,
साधु प्रतिक्रमण हैं करते सुहाते।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता,
संसार में सहज शाश्वत शांतिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरों सुरों से,
या मानवों मृगगणों मरुतादिकों से।
कायोतसर्गरत साधु सुधी तथापि,
निस्पंद शैल, लसते समता-सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प-विकल्प सारे,
साधु अनागत शुभाशुभ भाव टारें।
शुद्धात्म ध्यान सर में डुबकी लगाते,
वे प्रत्यख्यान गुण धारक हैं कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है।
दृष्टा बन निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता,
'मैं ही रहा वह' सुधी इस भांति गाता ॥४३७॥

जो भी दुराचरण है मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूं मैं,
तो बार-बार तन धार नहीं मरूं मैं ॥४३८॥

२८. तपसूत्र

(अ) बाह्यतप

जो ब्रह्मचर्य रहना, जिन ईश पूजा,
सारी कषाय तजना, तजना न ऊर्जा।
ध्यानार्थ अन्न तजना 'तप' ये कहाते,
प्रायः सदा भविक लोग इन्हें निभाते ।।४३९।।

है मूल में द्विविध रे तप मुक्तिदाता,
जो अंतरंग बहिरंग तथा सुहाता।
है अंतरंग तप के छह भेद होते,
है भेद बाह्य तप के उतने हि होते ।।४४०।।

'ऊनोदरी' 'अनशना' नित पाल रे! तू,
'भिक्षाक्रिया' रस-विमोचन मोक्ष हेतु।
'संलीनता' दुःख निवारक कायक्लेश,
ये बाह्य के छह हुए कहते जिनेश ।।४४१।।

जो कर्म नाश करने समयानुसार,
है त्यागता अशन को तन को संवार।
साधू वही अनशना तप साधता है,
होती सुशोभित तभी जग साधुता है ।।४४२।।

आहार अल्प करते श्रुतबोध पाने,
वे तापसी समय में कहलाय शाने।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना,
आत्मावबोध उससे न कदापि होता ।।४४३।।

ना इन्द्रियां शिथिल हो, मन हो न पापी,
ना रोगकानुभव काय करे कदापि।
होती वही अनशना, जिससे मिली हो,
आरोग्य पूर्ण नव-चेतनता खिली हो ।।४४४।।

उत्साह चाह विधि राह पदानुसार,
आरोग्य-काल-निज देह बलानुसार।
ऐसा करें अनशना ऋषि साधुसारे,
शुद्धात्म को नित निरंतर वे निहारें ॥४४५॥

लेते हुए अशन को उपवास साधें,
जो साध इन्द्रियजयी निजको अराधें।
हो इन्द्रियां शमित तो उपवास होता,
धोता कुकर्म मल को, सुख को संजोता ॥४४६॥

मासोपवास करते, लघु धी यमी में,
ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी में।
आहार नित्य करते फिर भी तपस्वी,
होते विशुद्ध उर में, श्रुत में यशस्वी ॥४४७॥

जो एक एक कर ग्रास घटा घटाना,
औ' भूख से अशन को कम न्यून पाना।
ऊनोदरी तप यही व्यवहार से है,
ऐसा कहें गुरु, सुदूर विकार से है ॥४४८॥

दाता खड़े कलश ले हंसते मिले तो,
लेऊं तभी अशन प्रांगण में मिले तो।
इत्यादि नेम मुनि ले अशनार्थ जाते,
भिक्षा क्रिया यह रही गुरु यों बताते ॥४४९॥

स्वादिष्ट इष्ट अति मिष्ठा गरिष्ठ खाना,
घी दूध आदि रस हैं इनको न खाना।
माना गया तप वही 'रसत्याग' नामा,
धारूं उसे, वर सकूं वर मुक्ति रामा ॥४५०॥

एकान्त में, विजन कानन मध्य जाना,
श्रद्धासमेत शयनासन को लगाना।
होता वही तप सुधारस पेय प्याला,
प्यारा 'विविक्त शयनासन' नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरि गह्वरों में,
नाना प्रकार तपना वन कन्दरों में।
है कायक्लेश तप, तापस ताप तापी,
पुण्यात्म हो धर उसे तज पाप पापी ॥४५२॥

जो तत्त्व बोध सुखपूर्वक हाथ आता,
आते हि दुःख झट से वह भाग जाता।
वे कायक्लेश समवेत अतः सुयोगी,
तत्वानुचिंतन करें समुपोपयोगी ॥४५३॥

जाता किया जब इलाज कुरोग का है,
ना दुःख हेतु सुख हेतु न रुग्ण का है।
भाई इलाज करने पर रुग्ण को ही,
हो जाय दुःख, सुख भी सुन भव्य, मोही ॥४५४॥

त्यों मोहनाश सविपाकतया यदा हो,
ना दुःख हेतु सुख हेतु नहीं तदा हो।
पै मोह के विलय में रत है वसी को,
होता कभी दुःख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

'प्रायश्चिता', 'विनय' औ ऋषि-साधु-सेवा,
'स्वाध्याय' ध्यान धरते वरबोध मेवा।
व्युत्सर्ग, स्वर्ग अपवर्ग महर्घ-दाता,
है अंतरंग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव है समितियों व्रत संयमों का,
प्रायश्चित्ता वह सही दम इन्द्रियों का।
ध्याऊं उसे विनय से उर में बिठाता,
होऊं अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

काषायिकी विकृतियां मन में न लाना,
आजाय तो जब कभी उनको हटाना।
गाना स्वकीय गुणगीत, सदा सुहाती,
प्रायश्चिता वह सुनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगों भवभवों समुपार्जितों का,
होता विनाश तप से भवबन्धनों का।
प्रायश्चिता इसलिए 'तप' हो रहा है,
त्रैलोक्य पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणी भया है,
व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी,
प्रायश्चिता दश विधा इस भांति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त चित्त वश आगत दोषकों को,
हेयों अयोग्य अनभोग कृतादिकों को।
आलोचना निकट जा गुरु के करो रे,
भाई नहीं कुटिलता उर में धरो रे ॥४६१॥

मां को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी,
है सत्य, सत्य कहता, उर पाप जो भी।
मायाभिमान तज, साधु तथा अघों की,
गाथा कहें, स्वगुरु को, दु:खदायकों की ॥४६२॥

हैं शल्य शूल चुभते जब पाद में जो,
दुर्वेदनानुभव पूरण अंग में हो।
ज्यों ही निकाल उनको हम फेंक देते,
त्यों ही सुशीघ्र सुखसिंचित स्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता, छुपाता,
मायाभिभूत यति भी अति दुःख पाता।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ,
निःशल्य हो विमल हो सुख-शांति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावें,
दे साम्य के सदन में सहसा सुहावें।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में,
आलोचना बस यही जिन-देशना में ॥४६५॥

प्रत्यक्ष, सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते,
होना खड़े, कर जुड़े शिर को झुकाते।
दे आसनादि करना गुरुभक्ति सेवा,
माना गया विनय का तप ओ सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप, दर्शन, औपचारी,
ये पांच हैं विनय भेद, प्रमोदकारी।
धारो इन्हें विमल-निर्मल जीव होगा,
दुःखावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्व का है,
तो एक का यह अनादर विश्व का है।
हो घात मूल पर तो द्रुम सूखता है,
दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत शासनों का,
हो संयमी विनय से घर सद्गुणों का।
वे धर्म-कर्म तप भी उनके वृथा हैं,
जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा हैं ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उदार भाता,
होता यही सुतप संयम-बोध धाता।
आचार्य संघभर की इससे सदा रहो,
आराधना, विनय से सुख-सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक में भी,
देती सही सुख वहां परलोक में भी।
विद्या न पै विनय-शून्य सुखी बनाती,
शाली, बिना जल कभी फल फूल लाती ? ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी मुनि मुक्ति पाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को पल में मिटाता।
भाई अतः विनय को तज ना कदापि,
सच्ची सुधा समझ के उसको सदा पी ॥४७२॥

जो अन्न पान शयनासन आदिकों को,
देना यथा समय सज्जन साधुओं को।
कारुण्य द्योतक यही भवताप हारी,
सेवामयी सुतप है शिवसौख्यकारी ॥४७३॥

साधू विहार करते करते थके हो,
वार्धक्य की अवधि पै बस आ रुके हो।
खानादि से व्यथित हो नृप से पिटायें,
दुर्भिक्षरोग वश पीड़ित हो सतायें ॥
रक्षा संभाल करना उनकी सदैवा,
जाता कहा 'सुतप' तापस साधु सेवा ॥४७४॥

सद् वाचना प्रथम है फिर पूछना है,
है आनुप्रेक्ष क्रमशः परिवर्तना है।
धर्मोपदेश सुखदायक है सुधा है,
स्वाध्याय रूप तप पावन पंचधा है।।४७५।।

आमूलतः बल लगा विधि को मिटाने,
पै ख्याति-लाभ-यश-पूजन को न पाने।
सिद्धान्त का मनन जो करता-कराता,
पा तत्त्वबोध बनता सुखधाम, धाता।।४७६।।

होते नितान्त समलंकृत गुप्तियों से,
तल्लीन भी विनय में मृदु वल्लियों से।
एकाग्र मानस जितेन्द्रिय अक्ष-जेता,
स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधु नेता।।४७७।।

सद्ध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो,
तो निर्जरा करम की निज ध्यान से हो।
हो मोक्ष-लाभ सहसा विधि निर्जरा से,
स्वाध्याय में इसलिए रम जा जरा से।।४७८।।

स्वाध्याय-सा न तप है नहिं था न होगा,
यों मानना अनुपयुक्त कभी न होगा।
सारे इसे इसलिए ऋषि सन्त त्यागी,
धारें, बने विगतमोह, बनें विरागी।।४७९।।

जो बैठना शयन भी करना तथापि,
चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि।
व्युत्सर्गरूप तप है, विधि को तपाता,
पीताभ हेम-सम आतम को बनाता।।४८०।।

कायोत्सर्ग तप से मिटती व्यथायें,
हो ध्यान चित्त स्थिर द्वादश भावनायें।
काया निरोग बनती मति जाड्य जाती,
संत्रास सौख्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेषणार्थ तपते उन साधुओं का,
ना शुद्ध हो तप महाकुल धारियों का।
शंसा अतः न अपने तप की करो रे,
जाने न अन्य जन यों तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहृत विबोध सुवात से है,
उद्दीप्त भी तपहुताशन, शील से है।
वैसा कुकर्म वन को पल में जलाता,
जैसा वनानल घने वन को जलाता ॥४८३॥

२९. ध्यान सूत्र

ज्यों मूल, मुख्य द्रुम में जग में कहाता,
या देह में प्रमुख मस्तक है सुहाता।
त्यों ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणों में,
धर्मों तथा सकल आचरणों व्रतों में ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है,
तो चित्त की चपलता त्रिवली विधा है।
चिंताअनुपेक्ष क्रमशः वह भावना है,
तीनों मिटें बस यही मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता,
योगी समाधि सर में लवलीन होता।
अध्यात्मिका धधकती फलरूप (अनिवार्य) ज्वाला,
है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्मशाला ॥४८६॥

व्यापार योगत्रय का जिसने हटाया,
संमोह राग रति रोपन को नशाया।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती दिखाती,
है राख खाक करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठें करें स्वमुख उत्तर पूर्व में वा,
ध्याता सुधी, स्थित सुखासन से सदैव।
आदर्श-सा विमल चारित काय वाला,
पीता समाधिरस पूरित पेय प्याला ॥४८८॥

प्रत्यंक आसन लगाकर आत्मध्याता,
नासाग्र को विषय लोचन का बनाता।
व्यापार योगत्रय का कर बन्द ज्ञानी,
उच्छवास श्वास गति मन्द करें अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे,
मांगो क्षमा जगत से मन मार लो रे।
हो अप्रमत्त तब लौं निज आत्म ध्याओ,
प्राचीन कर्म जब लौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता,
सद्ध्यान लीन, नहिं बाहर भूल जाता।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो वन काननी हो,
दोनों समान उसको, समता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि-रस को यदि चाहते हो,
जीना युगों, युगयुगों तक चाहते हो।
अच्छे बुरे विषय ऐंद्रिक हैं तथापि,
ना रोष तोष करना उनमें कदापि ॥४९२॥

निस्संग है निडर नित्य निरीह त्यागी,
वैराग्य-भाव परिपूरित है विरागी।
वैचित्र्य भी विदित है भव का जिन्होंको,
वे ध्यान लीन रहते, भजते गुणों को ॥४६३॥

आत्मा अनन्त दृग, केवल बोधधारी,
आकार से पुरुष शाश्वत सौख्यकारी।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता,
निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अध को हटाता ॥४६४॥

आत्मा तना तन, निकेतन में अपापी,
योगी उसे पृथक से लखते तथापि।
संयोग अन्य तन आदि उपाधियों को,
वे त्याग, आप अपने गुणते गुणों को ॥४६५॥

मेरे नहीं 'पर' यहां पर का न मैं हूं,
हूं एक हूं विमल केवल ज्ञान मैं हूं।
यो ध्यान में सतत् चिंतन जो करेगा,
ध्याता स्व का बन सुमुक्ति रमा वरेगा ॥४६६॥

जो ध्यान में न निजवेदन को करेगा,
योगी निजी-परम तत्त्व नहीं गहेगा।
सौभाग्य-हीन नर क्या निधि पा सकेगा ?
दुर्भाग्य से दुखित हो नित रो सकेगा ॥४६७॥

पिण्डस्थ आदिम पदस्थन, रूपहीन,
है ध्यान तीन इनमें तुम हो विलीन।
छद्मस्थता-सुजिनता, शिवसिद्धिता ये,
तीनों हि तत् विषय हैं क्रमशः सुहायें ॥४६८॥

खड्गासनादिक लगा युगवीर स्वामी,
थे ध्यान में निरत अंतिम तीर्थ नामी।
वे श्वभ्र स्वर्गगत दृश्य निहारते थे,
संकल्प के बिन समाधि सुधारते थे ॥४९९॥

भोगों, अनागत गतों व तथागतों की,
कांक्षा जिन्हें न स्मृति, क्यों ? फिर आगतों की।
ऐसे महर्षि जन कार्मिक काय को ही,
क्षीणातिक्षीण करते, बनते विमोही ॥५००॥

चिंता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो।
यों योग में गिरि बनो, शुभ ध्यान होता,
आत्मा निजात्मरत हो सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान में रम रहा सुख पा रहा है,
शुद्धात्म ही बस जिसे अति भा रहा है।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा,
ईर्षा विषाद मद शोक नहीं करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परिषहों से,
होते न भीरु चिगते अपने पदों से।
मायामयी अमर सम्पद वैभवों में,
ना मुग्ध लुब्ध बनते निज ऋद्धियों में ॥५०३॥

वर्षों पड़ा बहुत सा तृण ढेर चारा,
ज्यों अग्नि से झट जले बिन देर सारा।
त्यों शीघ्र ही भव भवार्जित कर्म कूड़ा,
ध्यानाग्नि से जल मिटे सुन भव्यमूढ़ा ॥५०४॥

३०. अनुप्रेक्षा सूत्र

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ ध्यान द्वारा,
कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा।
सद्ध्यान संतुलित होकर भी सदा रे,
भ्रान्ट भाव से सुखद द्वादश भावनायें ॥५०५॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव संवरा है।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावें सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥५०६॥

है जन्म से मरण भी वह जन्म लेता,
वार्धक्य भी सतत यौवन साथ देता।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है,
संसार ही तरल है स्थिर ही नहीं है ॥५०७॥

हे ! भव्य मोह-घट को झट पूर्ण फोड़ो,
सद्यःक्षयी विषय को विष मान छोड़ो।
औ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ,
औचित्य पूर्ण परमोत्तम सौख्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ हो परिजनों धन-वैभवों को,
है मानता 'शरण' पाशव गोधनों को।
ये हैं मदीय यह मैं उनका बताता,
पै वस्तुतः शरण वे नहिं प्राण त्राता ॥५०९॥

मैं संग शल्य त्रय को त्रययोग द्वारा,
हूं हेय जान तजता जड़ के विकारा।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी,
हैं गुप्तियां समितियां भव-दुःखहारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युवा करते सभी हैं,
पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वहीं है।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी,
धिक्कारते न रमते उसमें विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक-भर में थल ही रहा हो,
मैंने न जन्म मृत दुःख जहां सहा हो।
तू बार-बार तन धार मरा यहां है,
तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहां है ॥५१२॥

दुर्लंघ्य है भवपयोधि अहो अपारा,
अक्षुण्ण जन्म जल पूरित पूर्ण खारा।
भारी, जरा मगर मच्छ यहां सताते,
है दुःख पाक, इसका गुरु हैं बताते ॥५१३॥

जो साधु रत्नत्रय मंडित हो सुहाता,
संसार में परम तीर्थ वही कहाता।
संसार पार करता, लख क्योंकि मौका,
हो रूढ़ रत्न त्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे ! मित्र आप अपने विधि के फलों को,
है भोगते सकल जीव शुभाशुभों को।
तो कौन हो स्वजन ? कौन निरा पराया ?
तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग विबोध मयी सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूं सदा से।
संयोगजन्य सब शेष विभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥५१६॥

संयोग भाव वश ही बहु दुःख पाया ?
हूं कर्म के तपन तप्त गया सताया।
त्यागूं उसे यतन से अब चाव से मैं,
विश्राम लूं सघन चेतन छांव में मैं ॥५१७॥

तूने भवाम्बुनिधि मज्जित आतमा की,
चिंता न की न अबलौं उसपै दया की।
पै बार-बार करता मृत साथियों की,
चिन्ता दिवंगत हुए उन बंधुओं की ॥५१८॥

मैं अन्य हूं तन निरा, तन से न नाता,
ये सर्व भिन्न मुझसे सुत, तात, माता।
यों जान मान बुध पंडित साधु सारे,
धारें न राग इनमें, निज को निहारें ॥५१९॥

शुद्धात्म वेदन तथा सम दृष्टि वाला,
है वस्तुतः निरखता तनको निराला।
अन्यत्व रूप उसकी वह भावना है,
भाऊं उसे जब मुझे व्रत पालना है ॥५२०॥

निष्पन्न है जड़मयी पल हड्डियों से,
पूरा भरा रुधिर मूत्र-मलादिकों से।
दुर्गन्ध द्रव्य झरते नव द्वार द्वारा,
ऐसा शरीर फिर भी सुख दें तुम्हारा ? ॥५२१॥

जो मोह जन्य जड़ भाव विभाव सारे,
हैं त्याज्य यों समझ साधु उन्हें बिसारे।
तल्लीन हो प्रशम में तज वासना को,
भावें सही परम आस्रव भावना को ॥५२२॥

वु गुप्ति औ समिति पालक अक्ष जेता,
औ अप्रमत्त परमातमतत्व वेत्ता।
है कर्म के विविध आस्रव रोध पाते,
है भावना परम संवर की निभाते ॥५२३॥

है लोक का यह वितान असार सारा,
संसार तीव्र गति से गममान न्यारा।
यों जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारो,
लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारो ॥५२४॥

स्वामी जरा मरण-वारिधि में अनेकों,
जो डूबते बह रहें अनप्राणियों को।
सद्धर्म ही शरण है जागति, श्रेय द्वीप,
पूजूं उसे शिव लसे सहसा समीप ॥५२५॥

तो भी रहा सुलभ ही वर देह पाना,
पै धर्मका श्रमण दुर्लभ है पचाना।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिंसा,
ये भिन्न-भिन्न बन जाय शरीर, हंसा ॥५२६॥

सद्धर्म का सुलभ है सुनना-सुनाना,
श्रद्धान पै कठिन है उसपै जमाना।
सन्मार्ग का श्रमण भी करते तथापि,
होते कई स्खलित हैं मतिमूढ़ पापी ॥५२७॥

श्रद्धान औ श्रवण भी जिनधर्म का हो?
पै संयमाचरण तो अति दुर्लभा हो।
लेते सुधी रुचि सुसंयम में कई हैं,
पाते तथापि उसको सहसा नहीं हैं ॥५२८॥

सद्भावना वश निजातम शोभती त्यों,
निःसिद्ध नाव जल में वह शोभती ज्यों।
नौका समान भव पार उतारती है,
ये ! भावना अमित दुःख विनाशती हैं ।।५२९।।

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनायें,
आलोचना शुचि समाधि निजी कथायें।
भावो इन्हें, तुम निरन्तर पाप त्यागो,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज धाम भागो ।।५३०।।

३१. लेश्या सूत्र

ये पीत, पद्म शशि शुक्ल सुलेश्यकायें,
हैं धर्म ध्यान रत आतम की दशायें।
औ उत्तरोत्तर सुनिर्मल भी रही है,
मन्दादि भेद इनके मिलते कई हैं ।।५३१।।

होती कषाय वश योग प्रवृत्ति लेश्या,
है लूटती निधि सभी जिस भांति वेश्या।
जो कर्म बन्ध जग चार प्रकार का है,
हे मित्र ! कार्य वह योग कषाय का है ।।५३२।।

है कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकायें,
है पीत पद्म सित तीन सुलेश्यकायें।
लेश्या कही समय में छह भेद वाली,
ज्यों ही मिटी समझलो मिटती भवाली ।।५३३।।

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकायें,
तीनों अधर्म मय हैं दुःख आपदायें।
आत्मा इन्हीं वश दुखी बनता वृथा है,
पापी बना, कुगति जा सहता व्यथा है ।।५३४।।

है तीन धर्ममय अंतिम लेश्यकाय,
मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें।
ये जीव को सुगति में सब भेजती हैं,
वे धारते नित इन्हें जगमें व्रती हैं।।५३५।।

है तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतमा कुलेश्या,
है मन्द, मन्दतर, मन्दतमा सुलेश्या।
भाई तथैव छह थान विनाश वृद्धि,
प्रत्येक में वरतती इनमें, सुबुद्धि।।५३६।।

भूले हुए पथिक थे, पथ को मुधा से,
थे आर्त्त पीड़ित छहों वन में क्षुधा से।
देखा रसाल तरु फूल फलों लदा था,
मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था।।५३७।।

आमूल स्कन्ध टहनी झट काट डाले,
औ तोड़, तोड़ फल फूल रसाल खालें।
यों तीन दीन क्रमशः धरते कुलेश्या,
है सोचते कह रहे कर संकलेशा।।५३८।।

है एक गुच्छ-भर को इक पक्व पाता,
तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता।
यों शेष तीन क्रमशः धरते सुलेश्या,
लेश्या उदाहरण ये कहते जिनेशा।।५३९।।

य क्रूरता अतिदुराग्रह दुष्टतायें,
सद्धर्म की विकलता अदया दशायें।
वैरत्व औ कलह भाव विभाव सारे,
है कृष्ण के दुःखद लक्षण, साधु टारे।।५४०।।

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धतायें,
सद्बुद्धि की विकलता मतिमन्दतायें।
संक्षेप में समझ, लक्षण नील के हैं,
ऐसे कहे, श्रमण आलय शील के हैं ।।५४१।।

अत्यन्त शोक करना, भयभीत होना,
कर्त्तव्यमूढ़ बनना, झट रुष्ट होना।
दोषी व निन्द्य पर को कहना बताना,
कापोत भाव सब ये इनको हटाना ।।५४२।।

आदेय, हेय अहिताहित-बोध होना,
संसारि-प्राणि भर में समभाव होना।
दानी तथा सदय हो पर दुःख खोना,
ये पीत लक्षण इन्हें तुम धार लो ना ।।५४३।।

हो त्याग भाव, नयता व्यवहार में हो,
औ भद्रता, सरलता, उर कार्य में हो।
कर्त्तव्य मान करना गुरुभक्ति सेवा,
ये पद्म लक्षण क्षमा धरलो सदैवा ।।५४४।।

भोगाभिलाष मन में न कदापि लाना,
औ देह-नेह रति-रोषन को हटाना।
ना पक्षपात करना समता सभी में,
ये शुक्ल लक्षण मिलें मुनि में सुधी में ।।५४५।।

आ जाय शुद्धि परिणाम मन में जभी से,
लेश्या विशुद्ध बनती, सहसा तभी से।
काषाय मन्द पड़ जाय अशान्ति दाई,
हो जाय आत्म परिणाम विशुद्ध भाई ।।५४६।।

३२. आत्मविकास सूत्र (गुणस्थान)

संमोह् यसेग वश आतम में अनेकों,
होते विचित्र परिणाम विकार देखो।
सर्वज्ञ-देव 'गुणधाम' उन्हें बताया,
आलोक से सकल को जब देख पाया ॥५४७॥

मिथ्यात्व आदिम रहा गुणथान भाई,
सासादना वह् द्वितीय अशान्ति दाई।
है मिश्र है अवरिती समदृष्टि प्यारी,
है एक देश विरती धरते अगारी।

होती प्रमत्त विरती गिर साधु जाता,
हो प्रमत्त विरती निज पास आता।
स्वामी अपूर्व करुणा दुःख को मिटाती,
है आनिवृत्तिकरुणा सुख को दिलाती।

है सांपराय अति सूक्षम लोभ वाला,
है शान्त मोह गत मोह् निरा उजाला।
है केवली जिन सयोगि अयोगि न्यारे,
इत्थं चतुर्दश सुनो! गुणथान सारे ॥५४८॥

तत्वार्थ में न करना शुचिरूप श्रद्धा,
मिथ्यात्व है वह, कहे जिन शुद्ध बुद्धा।
मिथ्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला,
दूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ॥५४९॥

सम्यक्त्व रूप गिरि से गिर तो गई है,
मिथ्यात्व की अवनि पै नहिं आ गई है।
सासादना यह् रही निचली दशा है,
मिथ्यात्व को अभिमुखी दुःख की निशा है ॥५५०॥

जैसा दही-गुड़ मिलाकर स्वाद लोगे,
तो भिन्न-भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे।
वैसा हि मिश्र गुणथानक का प्रभाव,
मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोड़ी अभी नहिं चराचर जीव हिंसा,
ना इन्द्रियां दमित की तज भावहिंसा।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिन में जमाई,
होता वही अविरती समदृष्टि भाई ॥५५२॥

छोड़ी नितान्त जिसने त्रसजीव हिंसा,
छोड़ी परन्तु नहिं थावर जीव-हिंसा।
लेता सदा जिनप पाद पयोज स्वाद,
हो एक देश 'विरती' 'अलि' निर्विवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी जिसने तथापि,
प्रायः प्रमाद करता फिर भी अपापी।
शीलादि सर्व गुण धारक संगत्यागी,
होता प्रमत्त विरती कुछ दोष भागी ॥५५४॥

शीलाभिमंडित, व्रती गुण धार ज्ञानी,
त्यागा प्रमाद जिसने बन आत्मध्यानी।
पै मोह को नहिं दबा न खपा रहा है,
है अमत्त विरती, सुख पा रहा है ॥५५५॥

जो भिन्न-भिन्न क्षण में चढ़ आठवें में,
योगी अपूर्व परिणाम करे मजे में।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व में हो,
वे ही अपूर्व करणा गुणथान में हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते,
वे मोह के शमक, ध्वंसक या कहाते।
ऐसा जिनेन्द्र प्रभु ने हमको बताया,
अज्ञानरूप मत को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाले,
वे आनिवृत्ति करणा गुणथान वाले।
ध्यानाग्नि से धधकती विधिकाननी को,
है राख खाक करते, दुःख की जनी को ॥५५८॥

कौसुम्भ के सदृश्य सौम्य गुलाब आभा,
शोभायमान जिसके उर राग आभा।
है सूक्ष्म दशवें गुणथान वाले,
वे वन्द्य, तू विनय से शिर तो नवां ले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद में सरनीर होता,
या निर्मली फल डला जलक्षीर होता।
त्यों शान्त मोह गुणधारक हो निहाला,
हो मोह सत्व, पर जीवन तो उजाला ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा,
हो स्वच्छ, हो स्फटिक भाजर नीर जैसा।
निर्ग्रन्थ साधु वह क्षीण कषाय नामी,
यों वीतराग कहते प्रभु विश्व स्वामी ॥५६१॥

कैवल्य बोधरवि जीवन में उगा है,
अज्ञानरूप तम तो फलतः भगा है।
पा लब्धियां नव-नवीन वही कहाता,
त्रैलोक्य पूज्य परमातम या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृग पाकर केवली हैं,
जीता जभी स्वयं को जिन हैं बली हैं।
होता सयोगि जिन योग समेत ध्यानी,
ऐसा कहें अमिट भव्य या आर्षवाणी ।।५६३।।

हैं अष्ट कर्म मलको जिनने हटाया,
सम्यक्तया सकल आस्रव रोक पाया।
वे हैं, अयोगि जिन पावन केवली हैं,
है शील के सदन औ सुख के धनी हैं ।।५६४।।

आत्मा अतीत गुणधान बना जभी से,
सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी से।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाता,
पाता न देह, भव में नहिं लौट पाता ।।५६५।।

वे सिद्ध, नित्य, कृतकृत्य, सुशान्त ज्ञानी,
होते निरंजन न अंजन की निशानी।
सामान्य अष्टगुण आकर हो लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं ।।५६६।।

३३. संलेखना सूत्र

भाई सुनो तन अचेतन दिव्य नौका,
तो जीव नाविक सचेतन है अनोखा।
संसार-सागर रहा दुःख पूर्ण खारा,
हैं तैरते ऋषि-महर्षि जिसे सुचारा ।।५६७।।

है लक्ष्यबिन्दु यदि शाश्वत सौख्य पाना,
जाना मना विषय में मन को घुलाना।
दे, देह को उचित वेतन तू सयाने,
पाने स्वकीय सुखको विधि को मिटाने ।।५६८।।

क्या धीर, कापुरुष, कायर क्या बिचारा,
हो काल का कवल लोक नितान्त सारा।
है मृत्यु का यह नियोग, नहीं टलेगा,
तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

वो एक ही मरण है मुनि पण्डितों का,
है आशु नाश करता शतशः भवों का।
ऐसा अतः मरण हो जिससे तुम्हारा,
जो बार-बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०।

पांडित्य पूर्ण मृति पण्डित साधु पाता,
निर्भ्रान्ति हो अभय हो भय को हटाता।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीता,
मृत्युंजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु बाश समझे लघु दोष को भी,
हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी।
सद्धर्म और सधने तनको सभालें,
हो जीर्ण-शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गा लें ॥५७२॥

दुर्वार रोग तन में न जरा घिरी हो,
बाधा पवित्र व्रत में नहिं आ परी हो।
तो देह-त्याग न करो, फिर भी करोगे,
साधुत्व त्याग करके, भव में फिरोगे ॥५७३॥

सल्लेखना सुखद है सुख है सुधा है,
जो अंतरंग बहिरंग तया द्विधा है।
अदया, कषाय क्रमशः, कृश ही कराना,
है दूसरी बिन व्यथा तनको सुखाना ॥५७४॥

काषायिकी परिणती सहसा हटाते,
आहार अल्प करते क्रमशः घटाते।
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्ण होवे,
तो पूर्ण अन्न तज दे, अति अल्प सोवे ॥५७५॥

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई,
सन्यस्त के मसृण संस्तर ये न भाई।
आदर्श तुल्य जिसका मनको उजाला,
आत्मा हि संस्तर रहा उसका निहाला ॥५७६॥

हाला तथा कुपित नाग कराल काला,
या भूत, यंत्र, विष निर्मित बाण भाला।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के,
निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओं के ॥५७७॥

सल्लेखना समय में तजते न माया,
मिथ्यानिदान त्रय को मन में जमाया।
वे साधु आशु नहि दुर्लभ बोधि पाते,
पाते अनन्त दुख ही भव को बढ़ाते।५७८॥

कामादि शल्य त्रय ही भव वृक्षमूल,
काटें उसे मुनि सुधी, अभिमान भूल।
ऐसे मुनीश पद में नतमाथ होऊं,
पाऊं पवित्र पद को शिवनाथ होऊं ॥५७९॥

भोगाभिलाष समवेत कुकृष्ण लेश्या,
हो मृत्यु के समय में जिसको जिनेशा।
मिथ्यात्व कर्दम फंसा उस जीव को ही,
हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही ॥५८०॥

प्राणान्त के समय में शुचि, शुक्ल लेश्या,
जो धारता, तज नितान्त दुरन्त क्लेशा।
सम्यक्त्व में निरत नित्य, निदान त्यागी,
पाता वही सहज बोधि व्रती विरागी ॥५८१॥

सद्‌बोधि की यदि तुम्हें चिर कामना हो,
ज्ञानादि की सतत सादर साधना हो।
अभ्यास रत्नत्रय का करता, उसी को,
आराधना वरण है करती सुधी को ॥५८२॥

ज्यों सीखता प्रथम, राजकुमार नाना-
विद्या कला असिगदादिक को चलाना।
पश्चात् वही कुशलता बल योग्य पाता,
तो धीर जीतरिपु को जय लूट लाता ।।५८३।।

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है,
लेता सदैव यदि माध्यम साम्य का है।
तो साधु का सहज हो मन शान्त जाता,
प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ।।५८४।।

ध्याओ निजातम नित ही निजको निहारो,
अन्यत्र छोड़ निजको, न करो विहारो।
सम्बन्ध मोक्ष-पथ से अविलम्ब जोड़ो,
तो आप को नमन हो मम ये करोड़ों ।।५८५।।

साधू करे न मृति जीवन की चिकित्सा,
ना पारलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा।
सल्लेखना समय में बस साम्य धारे,
संसार का अशुभ ही फल यों विचारें ।।५८६।।

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में अरुचि ही शिव सौख्यकारी ।।५८७।।

।। दोहा—द्वितीय खण्ड समाप्त ।।
'मोक्षमार्ग' पर नित चलो दुख मिट, सुख मिल जाय,
परम सुगंधित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय।।१।।

३४. तत्त्व सूत्र

अल्पज्ञ मूढ़ जन ही भजते अविद्या,
होते दुखी, नहिं सुखी, तजते सुविद्या।
हो लुप्त गुप्त भव में बहुवार ताते,
कल्लौल ज्यों उपजते सर में समाते ।।५८८।।

रागादिभाव भव को अघ-पाश माने,
वित्तादि वैभव महा दुःख खान जानें।
औ सत्य तथ्य समझे, जग प्राणियों में,
मैत्री रखे, बुध सदैव चराचरों में ॥५८९॥

जो 'शुद्धता' परम 'द्रव्यस्वभाव' स्थाई,
है 'पारमार्थ' अपरापर ध्येय भाई।
औ वस्तु तत्त्व, सुन ! ये सब शब्द प्यारे,
हैं भिन्न-भिन्न पर आशय एक धारें ॥५९०॥

होते पदार्थ नव, जीव, अजीव न्यारा,
है पुण्य पाप, विधि आस्रव, बंध खारा।
आराध्य है सुखद संवर, निर्जरा है,
आदेय है परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है जीव, शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञाता,
भोक्ता तथा स्वयम की विधि के विधाता।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला,
प्यारा अरूप उपयोगमयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नहीं है,
उद्योग भी स्वहित का करता नहीं है।
जो बोध दुःख सुखका रखता नहीं है,
है मानते मुनि 'अजीव' उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म, काल,
ये हैं 'अजीव' सुन तू अयि ! भव्य बाल।
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते,
है मूर्त पुद्गल, न शेष, अमूर्त भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त, नहिं इंद्रिय गम्य होता,
होता तथापि नित, नूतन ढंग ढोता।
है आत्म की कलुषता विधि बन्ध हेतु,
संसार हेतु विधि बन्धन जान रे ! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाला,
होता विराग भव मुक्त-अनन्त ज्ञाता।
संसारि-जीव भर की विधि बन्ध गाथा,
संक्षेप में समझ, क्यों रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाष यदि है तज राग रागी,
नीराग भाव गहले, बन वीतरागी।
ऐसा हि भव्य जन शाश्वत सौख्य पाते,
शीघ्रातिशीघ्र भव-वारिधि तैर जाते ॥५९७॥

है पाप-पुण्य विधि दो विधि बंध हेतु-
रे जान निश्चित शुभाशुभ भाग को तू।
है धारते अशुभ तीव्र कषाय वाले,
शोभे सुधार 'शुभ' मन्द कषायवाले ॥५९८॥

धारें क्षमा खलजनों कटुभाषियों में,
लेवें नितान्त गुण शोध सभीजनों में।
बोलें सदैव पिय बोल, उन्हीं जनों के,
ये हैं उदाहरण मंद कषायियों के ॥५९९॥

जी वैरभाव रखना चिर, साधुओं में,
प्रादोष को निरखना, गुण धारियों में।
शंसा स्वकीय करना, उन पापियों के,
ये चिन्ह हैं परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग रोष वश मत्त बना भिखारी,
आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी।
है अष्ट कर्म करता जय योग द्वारा,
कैसे खुले ? फिर उसे वर मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पंचविध आस्रवद्वार द्वारा,
होता सदैव विधि आस्रव है अपारा।
आत्मा भवाम्बुनिधि में तब डूब जाती,
नौका सछिद्र, जल में कब तैर पाती ? ॥६०२॥

ही बात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यों,
वाक्काय से मानस से वह आत्मा त्यों।
त्रैलोक्य पूज्य जिन 'योग' उसे बताते,
वे योग निग्रहतया जग जान जाते॥६०३॥

ज्यों-ज्यों त्रियोग रुकते-रुकते चलेंगे,
त्यों-त्यों नितान्त विधि आस्रव भी रुकेंगे।
सम्पूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता,
क्यों पोत में विवर के बिन नीर जाता ?॥६०४॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ये चार आस्रव इन्हीं वश दुःखयोग।
सम्यक्त्व संयम, विराग त्रियोगरोध,
ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है !!
पानी प्रवेश करता उसमें नहीं है।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शीघ्रता से,
हो कर्म संवर निजातम साम्यता से॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि द्वार सारे,
होते जिन्हें निज समा जग जीव प्यारे।
वे संयमी परम संवर को निभाते,
है पाप रूप विधि-बन्धन को न पाते॥६०७॥

मिथ्यात्व रूप विधि-द्वार खुले न भाई,
तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई।
हिंसादि द्वार, व्रतरूप कपाट द्वारा,
हे! भव्य बन्द कर दें, सुख पा अपारा॥६०८॥

होगा जलास्रव जहां तुम बांध डालो,
आये हुए सलिल बाद निकाल डालो।
तालाब में जल लबालब हो भले ही,
ओ सूखता सहज से पल में टले ही॥६०९॥

हो संयमी परम आतम शोधता है,
संपूर्ण पाप विधि-आस्रव रोकता है।
निर्भ्रान्त कोटिभव संचित कर्म सारे,
होते विनष्ट, तपसे क्षण में विचारे ॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी,
पाता न मोक्ष तप से, कहते मनस्वी।
आता रहा सलिल बाहर से सदा ओ,
क्या सूखता सर कभी ? तुम ही बताओ ॥६११॥

है कर्म कष्ट करता जितना वनों में-
जा अज्ञ धार तप, कोटि भवों भवों में।
ज्ञानी निमेष भर में त्रय गुप्ति द्वारा,
है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशान्तिदाई,
तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई।
सेनाधिनायक भला रण में मरा हो,
सेना कभी बच सके ? न बचे जरा ओ ॥६१३॥

लोकान्त लौं गमन है करता सुहाता-
है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म धाता।
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्शी,
होता अतीन्द्रिय अनन्त प्रमाद स्पर्शी ॥६१४॥

संप्राप्त जो सुख, सुरों असुरों नरों को,
औ भोग भूमिजजनों अहमिंद्रकों को।
ओ मात्र बिन्दु, जब सिद्धनका सुसिंधु,
खद्योत-ज्योति इक है इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहां मन ही मरा है,
ना ओज तेज, मलकी न परम्परा है।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे ?
ना शब्द गम्य वह मोक्ष, दिखाया कैसे ? ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहां कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध सुख की दुख से न क्रीड़ा।
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते,
'निर्वाण' जान वह है गुरु यों बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियां जड़मयी जिसमें नहीं है।
बाधा कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥६१८॥

चिन्ता नहीं उपजती चित में जरा-सी,
नोकर्म भी नहिं, नहिं वसु कर्म-राशि।
होते जहां नहिं शुभाशुभ ध्यान चारी,
निर्वाण है वह रहा तुम यों विचारी ॥६१९॥

कैवल्य-बोध-सुख-दर्शन-वीर्य वाला,
आत्मा प्रदेशमत मात्र अमूर्त शाला।
निर्वाण में निवसता निज नीति धारी,
अस्तित्व से बिलसता जग-आर्तहारी ॥६२०॥

पाते महर्षि ऋषि सन्त जिसे, वही है,
निर्वाण, सिद्धि, शिव, मोक्ष-मही सही है।
लोकाग्र है सुख अबाधक, क्षेम प्यारा,
वन्दूं उसे विनय से बस बार बारा ॥६२१॥

एरण्डबीज सहसा जब सूख जाता,
है अर्ध्व ही नियम से उड़ता दिखता।
हो पंक लिप्त जल में वह डूब जाती,
तुम्बी सपंक तजती द्रुत उर्ध्व आती।

छूटा हुआ धनुष से जिस भांति बाण,
हो पूर्व योग बश हो गतिमान मान।
श्री सिद्ध जीवगति भी उस भांति होती,
धूमाग्नि की गति समा वह ऊर्ध्व होती ॥६२२॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल, नित्य अनूप सारे।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते,
है पुण्य-पाप-विधि-हीन मुझे सुहाते ॥६२३॥

३५. द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल, ख, धर्म, अधर्म, काल,
होते जहां समक्ष 'लोक' उसे विशाल।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
यों 'वीर ने' सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश पुद्गल अधर्म व धर्म, काल,
चैतन्य से विकल है सुन भव्य बाल।
होते अतः सब अजीव सदीव भाई,
लो! जीव में उजल चेतनता सुहाई ॥६२५॥

ये पांच द्रव्य, नभ धर्म अधर्म, काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल!
है मूर्त पुद्गल सदा सबमें निराला!
है जीव चेतन-निकेतन, बोधशाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो है,
तो शेष चार सव निष्क्रिय द्रव्य जो है।
कर्माभिभूत जड़ पुद्गल से क्रियावान्,
है जीव, कालवश पुद्गल है क्रियावान् ॥६२७॥

है एक एक नभ, धर्म, अधर्म तीनों,
तो शेष शाश्वत अनन्त अनन्त तीनों।
हैं वस्तुतः सब स्वतन्त्र स्वलीन होते,
ऐसा जिनेश कहते वसु कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म औ वह अधर्म त्रिलोक व्यापी,
आकाश तो सकल लोक अलोक व्यापी।
है मर्त्य लोक भर में व्यवहार काल,
सर्वज्ञ के वचन हैं सुन भव्य बाल! ॥६२९॥

देते हुए श्रेय परस्पर में मिले हैं,
ये सर्व द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं।
शोभे तथापि अपने अपने गुणों से,
छोड़े नहीं निज स्वभाव युगों-युगों से ॥६३०॥

है स्पर्श रूप, रस, गन्ध, विहीन स्थाई,
है खण्ड-खण्ड नहिं पूर्ण अखण्ड भाई।
है लोक पूर्ण सुविशाल असंख्य देशी,
धर्मास्तिकाय वह है सुन तू हितैषी ॥६३१॥

त्यों धर्म, जीव जड़ की गति में सहाई,
ज्यों मीन के गमन में जल होय भाई!
औदास्य भाव धरता नहिं प्रेरणा है,
धर्मास्तिकाय यह है जिन देशना है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चलें, गति है दिलाता।
होता न प्रेरक निमित्त तथापि भाई,
ज्यों रेल के गमन में पटरी सहाई ॥६३३॥

है धर्म द्रव्य उस भांति अधर्म द्रव्य,
कोई क्रिया न करता सुन भद्र! भव्य!
औदास्य भाव धरतीसम धार लेता,
ज्यों प्राणि पुद्गल रुकें स्थितिदान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भावधाता,
होता पदार्थ दल का अवगाह दाता।
भाई अमूर्त नभ के फिर भेद दो हैं,
है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहां है,
माना गया अमित लोक यही यहां है।
आकाश केवल अलोक वही कहाता,
यों ठीक-ठीक यह छन्द हमें बताता ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रस गन्ध विहीन होता,
संवर्तनामय सुलक्षण जो कि ढोता।
है धारता गुण सदा अगुरुलघु को,
है काल स्वीकृत यही जग के प्रभु को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गलों में,
धारा प्रवाह परिवर्तन चेतनों में।
ओ काल का बस अनुग्रह तो रहा है,
वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घंटा निमेष समयावलि आदि देखो,
होते प्रभेद जिसमें सहसा अनेकों।
होता वही समय में व्यवहार काल,
है वीतराग जिनका मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, 'स्कन्ध', 'अणु' पुद्गल के पिछानो,
है स्कन्ध भेद छह को अणु के सुजानो।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
पै चर्मचक्षु अणु की करती न पूजा ॥६४०॥

है स्थूल-स्थूल, फिर स्थूल व स्थूल सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सु सूक्ष्म सूक्ष्म।
भू, नीर, आतप, हवा, विधि-वर्गणायें,
ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥६४१॥

किंवा धरा सलिल, लोचन गम्य छाया।
नासादि के विषय पुद्गल कर्म माया।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहो यहां ये,
हैं स्कन्ध भेद जड़ पुद्गल के बताये ॥६४२॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
है आदि मध्य अरु अन्त विहीन होता।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता,
ऐसा कहें जिन यही परमाणु गाथा ॥६४३॥

जो स्कन्ध में वह क्रिया अणु में इसी से,
तू जान पुद्‌गल सदा अणु को खुशी से।
स्पर्शादि चार गुण पुद्‌गल धार पाता,
है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ॥६४४॥

ओ जीव है, विगत में चिर जी चुका है,
जो चार प्राण धर के अब जी रहा है।
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा,
उच्छ्‌वास-आयु-बल इन्द्रिय पा लसेगा ॥६४५॥

विस्तार संकुचन शक्तितया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी।
पै छोड़के समुद्‌घात दशा हितैषी!
है वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥६४६॥

ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही,
है लाल लाल करता सुन मूढ़ मोही!
त्यों जीव देह थित हो निज देह को हो,
सम्यक् प्रकाशित करे नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता,
है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा
भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

ये जीव है द्विविध, चेतन धाम सारे,
'संसारि' 'मुक्त' द्विविधा उपयोग धारे।
संसारिजीव तनधारक है दुखी है,
हे मुक्त जीव तनमुक्त तभी सुखी है ॥६४९॥

पृथ्वी-जलानल समीर तथा लतायें,
एकेंद्रिजीव सब स्थावर ये कहायें।
है धारते करण दो, त्रय, चार, पांच,
शंखादि जीव त्रस है करते प्रपंच ॥६५०॥

३६. सृष्टि सूत्र

है वस्तुतः यह अकृत्रिम लोक भाता,
आकाश का हि इक भाग अहो ! कहाता।
आई अनादि अविनश्वर नित्य भी है,
जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कन्ध होता,
है स्निग्ध रुक्ष गुण धारक चूंकि होता।
ना शब्द रूप अणु है, इक देश धारी,
पत्यक्ष ज्ञान लखता 'अणु' निर्विकारी ॥६५२॥

ये सूक्ष्म स्थूल दयणुकादिक स्कन्ध सारे,
पृथ्वी जलाग्नि मस्तादिक रूप धारें।
कोई इन्हें न ऋषि ईश्वर ही बनाते,
पै स्कीय शक्ति वश ही बनते सुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रय लोक सारा,
पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा।
है योग्य स्कन्ध उनमें विधि रूप पाने,
होते अयोग्य कुछ हैं समझो सयाने ! ॥६५४॥

ज्यों जीव के विकृत भाव निमित्त पाती,
वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती।
आत्मा उन्हें न विधिरूप हठात् बनाता,
होता स्वभाव वश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है,
पंचेंद्रि के विषय को मन धारता है।
रंजायमान उसमें वह ही फंसेगा,
दुष्टाष्ट कर्म-मल में चिर ओ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र है विपुल है विधि वर्गणायें,
आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशायें।
वे जीव के सब प्रदेश में समाते,
रागादिभाव जब जीव सुधार पाते ॥६५७॥

ज्यों राग-रोष मय भाव स्वचित्त लाता,
है मूढ़ पामर शुभाशुभ कर्म पाता।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना,
ले साथ ही नियम से विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म वश देह नवीन पाते,
संसारिजीव पुनि कर्म नये कमाते।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं,
वे कर्म-बन्ध तज सिद्धि सुखी हुए हैं ॥६५९॥

दोहा

'तत्त्वदर्शन' यही रहा निजदर्शन का हेतु।
निज दर्शन का सार है, भवसागर के सेतु ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त् ॥

३७. अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमें दिखाते,
भाई, बिना जिसके चल वे न पाते।
नैकान्तवाद वह है जगदेक स्वामी !
वन्दू उसे विनय से शिव पन्थगामी ॥६६०॥

आधार द्रव्य, गुणका, इक द्रव्य का ही,
आधार ले गुण लसे, शिव राह राही !
पर्याय द्रव्य गुण आश्रित हैं कहाते,
ये वीर के वचन ना जड़ को सुहाते ॥६६१॥

पर्याय के बिन कही नहिं द्रव्य पाता,
तो द्रव्य के बिन न पर्यय भी सुहाता।
उत्पाद-ध्रौव्य-व्यय लक्षण द्रव्य का है,
यों जान, लाभ द्रुत लूं निज द्रव्य का है ॥६६२॥

उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता,
उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता।
उत्पाद और व्यय ना बिन ध्रौव्य के हो,
विश्वास ईदृशन किन्तु अभव्य के हो ॥६६३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय हो इन पर्ययों में,
हो द्रव्य में नहिं तथा उसके गुणों में।
पर्याय है नियत द्रव्यमयी, तभी है,
वे 'द्रव्य' ही कह रहे गुरु यों सभी है ॥६६४॥

है एक ही समय में त्रय भाव ढोता,
उत्पाद ध्रौव्य व्यय धारक द्रव्य होता।
तीनों अतः नियत द्रव्य यथार्थ में हैं,
योगी कहें रत स्वकीय पदार्थ में हैं ॥६६५॥

पर्याय एक नशती जब लौं जहां है,
तो दूसरी उपजती तब लौं वहां है।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता,
ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य तो पुरुष में इकसार पाता,
ले जन्म से मरण लौं नहिं छोड़ जाता।
वार्धक्य ओ शिशु किशोर युवा दशायें,
पर्याय हैं जनमती मिटती सदा यें ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश्य द्रव्यन की सुहाती,
'सामान्य' नाम वह निश्चित धार पाती।
पर्याय हो विसदृशा वह हो 'विशेषा',
ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेषा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्म वाला,
हो द्रव्य ज्ञान जिसको लखता सुचारा।
सम्यक्त्व का वह सुसाधक बोध होता,
मिथ्यात्व मित्र, आर्य मित्र ! कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही सुत किसी नय से दिखाई।
पै भ्रात तात सुत ओ सबका न होता,
है वस्तु धर्म इस भांति अशांति खोता ॥६७०॥

जो निर्विकल्प-सविकल्प द्विधर्म वाला,
है शोभता नर मनो शशि हो उजाला।
एकान्त से यदि उसे इकधर्मधारी,
जो मानता वह न आगम बोध धारी ॥६७१॥

पर्याय नैक विध यद्यपि हो तथापि,
भाई विभाजित उन्हें न करो कदापि।
वे क्षीर नीर जब आपस में मिलेंगे,
ओ 'नीर' 'क्षीर' 'यह' यों फिर क्या कहेंगे ? ॥६७२॥

निःशंक हो समय म तज मान सारा,
स्याद्वाद का विनय से मुनि लें सहारा।
भाषा द्विधाअनुभय सत्य सदैव बोले,
निष्पक्ष भाव धर शास्त्र रहस्य खोले ॥६७३॥

३८. प्रमाण सूत्र

(अ) पंचविध ज्ञान

संमोह-संभ्रम-ससंशय-हीन प्यारा,
कल्याण खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला।
माना गया स्वपरभाव प्रभाव दर्शी,
साकार नैकनिध शाश्वत-सौख्य-स्पर्शी ॥६७४॥

सज्ज्ञान पंच विध ही मतिज्ञान प्यारा-
दूजा श्रुतावधि-तृतीय सुधा-सुधारा।
चौथा पुनीत मनपर्यय ज्ञान मानूं,
है पांचवां परमकेवल ज्ञान-भानू ॥६७५॥

सज्ज्ञान पंच विध ही गुरु गा रहे हैं,
लेके सहार जिसका शिव जा रहे हैं।
सम्पूर्ण आयिक सुकेवल ज्ञान नामी,
चारों क्षयोपशमका अवशेष स्वामी ॥६७६॥

ईहा, अपोह, मति, शक्ति, तथैव संज्ञा,
मीमांस, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा।
ये सर्व ही अभिनिबोधिक ज्ञान भाई,
पूजो इसे बस यही शिव-सौख्य दाई ॥६७७॥

आधार ले विषय का मति के जनाता-
जो अन्य द्रव्य, श्रुत ज्ञान वही कहाता।
ओ लिंगशब्दज तथा श्रुत ही द्विधा है,
होता नितान्त मतिपूर्वक ही सुधा है।
है मुख्य शब्दज जिनागम में कहाता,
जो भी उसे उर-धरे भवपार जाता ॥६७८॥

पाके निमित्त मन इन्द्रिय का अधारी,
होता प्रसूत श्रुतज्ञान श्रुतानुसारी।
है आत्मतत्त्व परसन्मुख थापने में,
स्वामी! समर्थ श्रुत ही, मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में मति सदा श्रुत बाद में हो,
ना पूर्व में श्रुत कभी मति बाद में हो।
होती 'पृ' धातु परिपूरण पालने में,
हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणें में ॥६८०॥

सीमा बना, समय आदिक की सयाने,
रूपी पदार्थ-भर को इकदेश जाने।
जो ख्यात भाव* गुण प्रत्यय से ससीमा,
माना गया अवधिज्ञान वही सुधीमा ॥६८१॥

है चित्त चिंतित अचिंतित चिंतता है,
या सार्ध चिंतित नृलोकन में यहां है।
जो जानता बस उसे शिव सौख्य दाता,
प्रत्यक्ष ज्ञान मन पर्यय नाम पाता ॥६८२॥

---

*भव शब्द को ही भाव शब्द बनाकर छन्द को निर्दोष बनाने का प्रयास किया है। अवधि ज्ञान 'भव प्रत्यक्ष' और 'गुण प्रत्यक्ष' दो प्रकार का होता है।

शुद्धैक और सब, अनन्त विशेष आदि,
ये अर्थ हैं सकल केवल के अनादि।
कवल्य ज्ञान इन सर्व विशेषणों से,
शोभे अतः भज उसे, बच दुर्गुणों से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक-टोक,
है जानता सकल लोक तथा अलोक।
'केवल्य-ज्ञान' जिसको नहिं जानता हो,
ऐसा गतागत अनागत भाव ना हो ॥६८४॥

(आ) प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व नित्य अविरुद्ध अबाध भाता,
सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता।
होता प्रमाण वह ज्ञान अतः सुधा है,
प्रत्यक्ष पावन परोक्षतया द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अश् तथा अश जो कहाती,
व्याप्त्यर्थ में अशन में क्रमशः सुहाती।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्हीं से,
ऐसा सदा समझ तू नहिं और किसी से ॥

है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है,
सर्वार्थ में सहज व्याप सुशोभता है।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता,
'प्रत्यक्ष' है त्रिविध आगम यों बताता ॥६८६॥

द्रव्येन्द्रियां मनस पुद्गल भाव धारें,
है अक्ष से इसलिए अति भिन्न न्यारे।
संजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा,
होता परोक्ष बस लिंगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के हैं,
औचित्य है परनिमित्तक क्योंकि वे हैं।
किंवा अहे परिनिमित्तक हो न कैसे?
हो प्राप्तअर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिंगज ही, महान्,
प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान।
स्वामी ! प्रसूत मति, इन्द्रिय चित्त से जो,
'प्रत्यक्ष संव्यवहरा' उपचार से हो ॥६८९॥

३९. नय सूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता,
होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता।
माना गया नय वही श्रुत भेद प्यारा,
ज्ञानी वही कि जिसने नय ज्ञान धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना,
भाई तुम्हें प्रथम है नयज्ञान पाना।
स्याद्वादबोध नय के बिन ना निहाला,
चाबी बिना नहिं खुले गृह-द्वार-ताला ॥६९१॥

ज्यों चाहता वृष बिना 'जड़' मोक्ष जाना,
किंवा तृषी जल बिना हि तृषा बुझाना।
त्यों वस्तु को समझना नय के बिना ही,
है चाहता अबुध ही भवराह राही ॥६९२॥

तीर्थेश का वचन सार द्विधा कहाता,
सामान्य आदिम द्वितीय विशेष भाता।
दो द्रव्यपर्ययतया नय है उन्हीं के,
ये ही यथाक्रम विवेचक भद्र दीखे ॥६९३।

ये दोष भेद इनके नय शेष जो भी,
तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी।

सामान्य को विषय है नय जो बनाता,
तू शून्य ही वह 'विशेष' उसे दिखाता।
जो जानता नय सदैव विशेष को है,
सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थि की नय सदा इस भांति गाता,
है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता।
ै द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता,
पर्याय आर्थिक सदा इस भांति रोता ॥६६५॥

द्रव्यार्थि के नयन में सब द्रव्य आते,
पर्याय अर्थिवश पर्याय मात्र भाते।
'एक्सरे' हमें हृदय-अन्दर का दिखाती,
तो कैमरा शकल ऊपर की बताती ॥६६६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता,
द्रव्यार्थि की नय वही जग में कहाता।
जो द्रव्य गौण कर पर्याय को जनाता,
पर्यायअर्थिक वही यह शास्त्र गाता ॥६६७॥

जो शास्त्र में कथित नैगम, संग्रहा, रे !
है व्यावहार, ऋजुसूत्र, सशब्द प्यारे।
एवंभुता समभिरूढ़ उन्हीं द्वयों के,
हैं भेद भूल नय सात, विवाद रोके ॥६६८॥

द्रव्यर्थि की सुनय आदिम तीन प्यारे,
पर्याय अर्थिक रहें अवशेष सारे।
हैं चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो,
हैं शेष तीन नय शब्द प्रधान मानो ॥६६९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभय रूप ज्ञान,
प्रख्यात नैक विध है अनुमान मान !
जाने इन्हें, सुनय नैगम है कहाता,
मानो उसे 'नयिक ज्ञान' अतः सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस सांप्रत से जुड़ाना,
है भूत नैगम वही गुरु का बताना।
वर्षों पुरा शिवगयें युगवीर प्यारे,
मानें तथापि हम 'आज उषा' पधारे ॥७०१॥

प्रारम्भ कार्य भरको जन पूछने से,
'पूरा हुआ' कि कहना सहसा मजे से।
ओ वर्तमान नय नैगम नाम पाता,
ज्यों पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहिं हुवा फिर भी बताना,
लो ! कार्य पूरण हुआ रट यों बगाना।
भावी सुनैगन यही समझो सुजाना,
जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस में प्रबुद्ध,
सत् रूप से सकल को गहता 'विशुद्ध'।
जात्येक भेद गहता उनमें 'अशुद्ध',
यों है द्विधा सुनय संग्रह पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

संप्राप्त संग्रहतया द्विविधा पदार्थ-
जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ।
ओ व्यावहार नय भी द्विविधा, स्ववेदी !
'शुद्धार्थ भेदक' अशुद्ध पदार्थ भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य में ध्रुव न हो पल आयुवाली,
पर्याय हो वियत में बिजली निराली।
जाने उसे कि ऋजु सूत्र सु सूक्ष्म भाता,
होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौं सुहाता,
जो देव रूप उसको तबलौं जनाता।
तू मान स्थूल ऋजु सूत्र वही कहाता,
ऐसा यहां 'श्रमण सूत्र' हमें बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य का कथन है करता, बुलाता,
आह्वान शब्द वह है जग में सुहाता।
तत्-शब्द-अर्थ भर को नय जो गहाता,
ओ हेतु सा 'सुनय शब्द' अतः कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन में वच लिंग भेद,
देख शब्दनय ही करता अर्थ भेद।
पुलिंग में व तिर्यलिंगन में सुचारा,
ज्यों पुष्य शब्द बनता 'नक्षत्र तारा' ॥७०६॥

जो शब्द व्याकरण-सिद्ध, सदा उसी में,
होता तदर्थ अभिरूढ़ न औ किसी में।
स्वीकार ना बस उसे उस शब्द द्वारा,
है मात्र शब्दनय का वह काम सारा।
ज्यों देव शब्द सुन आशय 'देव' लेना,
भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिरूढ़ स्वअर्थ में हो,
प्रत्येक अर्थ अभिरूढ़ स्वशब्द में हो।
है मानता समभिरूढ़ सदैव ऐसे,
ये शब्द 'इन्दर' 'पुरन्दर' शक्र जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ रूप अभिरूढ़ पदार्थ 'भूत',
शब्दार्थ से स्खलित अर्थ अतः 'अभूत'।
एवंभुता सुनय है इस भांति गाता,
शब्दार्थ तत् पर विशेष अतः कहाता ॥७१२॥

जो जो क्रिया जन तनादितया करें ओ!
तत् तत् क्रिया गमक शब्द निरे निरें हो!
एवं भुता नय अतः उस शब्द का है,
सम्यक् प्रयोग करता जब काम का है।
जैसा सुसाधु रत साधन में सही हो,
स्तोता वही कर रहा स्तुति स्तुत्य की हो ॥७१३॥

४०. स्याद्वाद सप्तभंगी सूत्र

हो 'मान' का विषय या नय का भले हो,
दोनों परस्पर अपेक्ष दिए हुए-हो।
सापेक्ष है विषय ओ तब ही कहाता,
हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता ॥७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध,
है सिद्ध शाश्वत निपाततया 'अवेद'* ।
'स्यात्' शब्द है वह जिनागम में कहाता,
आपेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ।।७१५।।

भाई प्रमाण-नय दुर्नय भेद वाले,
हैं सप्त भंग बनते क्रमवार न्यारे।
'स्यात्' की अपेक्ष रखते परमाण प्यारे !
शोभें नितान्त नय से नयभंग सारे।
सापेक्ष दुर्नय नहीं, निरपेक्ष होते,
एकान्त पक्ष रखते दुःख को संजोते ।।७१६।।

स्यादस्ति, नास्ति, उभया-वक्तव्य चौथा,
भाई त्रिधा-अवक्तव्य तथैव होता।
यों सप्त भंग लसते परमाण के हैं,
ऐसा कहें जिनप आलय ज्ञात के हैं ।।७१७।।

क्षेत्रादिरूप इन स्वीय चतुष्टयों से,
अस्तिस्वरूप सब द्रव्य युगों-युगों से।
क्षेत्रादिरूप परकीय चतुष्टयों से,
नास्ति स्वरूप प्रतिपादित साधुओं से ।।७१८।।

जो स्वीय औ परचतुष्टय से सुहाती,
स्यादस्ति नास्ति मय वस्तु वही कहाती।
औ एक साथ कहते द्वय धर्म को है,
तो वस्तु हो अवकतव्य प्रमाण सो है।
यों स्वीय स्वीय नय संग पदार्थ जानो,
तो सिद्ध हों अवकतव्य त्रिभंग मानो ।।७१९।।

---

*अवेद = लिंगातीत स्यात् शब्द अव्यय है।

एकैक भंग मय ही सब द्रव्य भाते,
एकान्त से सतत यों रट जो लगाते।
वे सात भंग तब दुर्नय-भंग होते,
स्यात् शब्द से सुनय से जब दूर होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ में इक धर्म आता,
तो अन्य धर्म उसका स्वयमेव भाता।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ,
'स्यात्' सप्त भंग सब में झगड़ा मिटाओ ॥७२१॥

४१. समन्वय सूत्र

जो ज्ञान यद्यपि परोक्षतया जनाता,
नैकान्त रूप सबको फिर भी बताता।
है संशयादिक प्रदोष-विहीन साता,
तू जान मान 'श्रुत ज्ञान' वही कहाता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा,
साधें सुकार्य जग के, नय ओ पुकारा।
औ भेद भी नय वही श्रुत ज्ञान का है,
माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त गुण धर्म पदार्थ में हैं,
पै एक को हि चुनता नय ठीक से है।
तत्काल क्योंकि रहती उसको अपेक्षा,
हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही सुनय हो सुख को संजोते,
माने गये कुनय हैं निरपेक्ष होते।
संपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे,
नौका समान भव पार तुझे उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन हैं जितने सुहाते,
हे भव्य जान नय भी उतने हि पाते।
मिथ्या अतः नय हटी कुपथः प्रकाशी,
सापेक्ष सत्य नय मोह-निशा-बिनाशी ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाश्रित पंथ का वे,
स्याद्वाद विज्ञ परिहार करें करावें।
औ ख्याति लाभ वश जैन बना हटी हो,
ऐसा पराजित करो पुनि ना त्रुटी हो ॥७२७॥

सच्चे सभी नय निजी विषयों स्थलों में,
झूठे परस्पर लड़ें निशि-वासरों में।
'ये' सत्य 'वे' सब असत्य कभी अमानी,
ऐसा विभाजित उन्हें करते न ज्ञानी ॥७२८॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते,
सच्चे कभी कुनय पै बन है न पाते।
ना वस्तु के गमक हैं उनमें न बोधि,
सर्वस्व नष्ट करते रिपु में विरोधी ॥७२९॥

सारे विरुद्ध नय भी बन जायं अच्छे,
स्याद्वाद की शरण ले कहलायं सच्चे।
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यों,
दोषी विदोष बनते मुनि संघ में त्यों ॥७३०॥

होते अनन्त गुण, द्रव्यन में सयाने,
द्रव्यांश को अबुध पूरण द्रव्य माने।
छू अंगा अंग गजके प्रति अंग को ही,
ज्यों अंध वे गज कहें, अयि भव्य मोही ! ॥७३१॥

सर्वांगपूर्ण गज को दृग से जनाता,
तो सत्य ज्ञान गज का उसका कहाता।
सम्पूर्ण द्रव्य लखता सब ही नयों से,
है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओं से ॥७३२॥

संसार में अमित द्रव्य अकथ्य भाते,
श्री वीर देव कहते मित कथ्य पाते।
लो कथ्य का कथित भाग अनन्तवां है,
जो शास्त्र रूप वह भी बिखरा हुआ है ।।७३३।।

निंदा तथापि नित जो पर के पदों की,
शंसा अतीव करते अपने मतों की।
पांडित्य, पूजन यशार्थ दिखा रहे हैं,
संसार को सघन और बना रहे हैं ।।७३४।।

संसार में विविध कर्म-प्रणालियां हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियां हैं।
भाई अतः मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से, अनुज से, पर से, अरी से ।।७३५।।

हे भव्यजीव-मति गम्य जिनेन्द्र वाणी,
पीयूष-पूरित, पुनीत, प्रशान्ति-खानी।
सापेक्ष पूर्ण नय आलय पूर्ण साता,
आसूर्य जीवित रहे जयवन्त माता ।।७३६।।

४२. निक्षेप सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्ति साथ,
औचित्य पूर्ण पथ में रखना पदार्थ।
'निक्षेप' है समय में वह नाम पाता,
नामादि के वश चतुर्विध है कहाता ।।७३७।।

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा,
जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा।
तद्भाव की वजह से इक द्रव्य के ही,
ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ।।७३८।।

ये 'नाम' स्थापन, व 'द्रव्य' स्वभाव-चारों,
निक्षेप हैं तुम इन्हें मन में सुधारो।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की सुसंज्ञा,
है नाम भी द्विविध ख्यात, कहे जिनज्ञा ।।७३९।।

आकार औ' इतर 'स्थापन' यों द्विधा है,
अर्हन्त बिम्ब कृत्रिमतर आदि का है।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को,
तू दूसरा समझ रे ! तज वासना को ।।७४०।।

जो द्रव्य को गत अनागत भाव वाला,
स्वीकारता कर सुसांप्रत गौण सारा।
निक्षेप 'द्रव्य' वह आगम में कहाता,
विश्वास मात्र उसमें बस भव्य लाता ।।

निक्षेप द्रव्य, द्विविधा वह है कहाता,
नोआगमागमतया सहसा-सुहाता।
ना शास्त्रलीन रहता, जिन-शास्त्र ज्ञाता,
ओ द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता ।।

नो आगमा त्रिविध 'ज्ञायक देह' भावी,
औ 'कर्म रूप' जिन यों कहते स्वभावी।
हे ! भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है,
जो भूत सांप्रत भविष्यत या कहा है ।।

औ त्यक्त च्यावित तथा च्युत यों त्रिधा है,
औ 'भूत ज्ञायक' जिनागम में लिखा है ।।

शास्त्रज्ञ की जड़मयी उस देह को ही,
तद्रूप जो समझना अपि भव्यमोही।
माना गया कि वह 'ज्ञायक देह' भेद,
ऐसा जिनेश कहते जिनमें न खेद ।।

नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले,
लो 'नीति' ही मर चुकी जिस भांति बोले ।।

जो द्रव्य की कल दशा बन जाए कोई,
तद्रूप आज लखना उस द्रव्य को ही।
श्री वीर के समय में बस 'भावि' सोही,
राजा तथा समझना युवराज को ही ।।

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले,
रे ! वस्तु का ग्रहण जो करले करा ले।
है 'कर्म भेद' वह निश्चित ही कहाता,
ऐसा 'वसन्त तिलका' यह छन्द गाता ।।

देवायु कर्म जिसने बस बांध पाया,
ज्यों आज ही समझना यह 'देव राया'।
या पूर्ण कुम्भ कलदर्पण आदि भाते,
लोकोपचार वश मंगल ये कहाते ।।७४१-७४२।।

है द्रव्य सांप्रतदशामय यों बताता,
निक्षेप 'भाव' वह आगम में कहाता।
नोआगमागम तया वह भी द्विधा है,
वाणी जिनेन्द्र-कथिता कहती सुधा है ।।

आत्मोपयोग जिन आगम में लगाता,
अर्हन् उसी समय है जिन शास्त्र-ज्ञाता।
तो 'भाव आगम' नितान्त यही रहा है,
ऐसा यहां श्रमण सूत्र बता रहा है ।।

अर्हन्त के गुण सभी प्रकटें जभी से,
अर्हन्त देव उनको कहना तभी से।
है केवली जब उन्हीं गुण धार ध्याता,
'नो आगमा' वह जिनागम में कहाता ।।७४३-७४४।।

४३. समापन

अर्हन् प्रभो ! अमित दर्शन-ज्ञान स्पर्शी,
वे 'ज्ञातृ पुत्र' निखिलज्ञ, अनन्तदर्शी।
वैशालि में जनम सन्मति ने लिया था,
धर्मोपदेश इस भांति हमें दिया था ।।७४५।।

श्री वीर ने सुपथ यद्यपि था दिखाया,
था कोटिशः सदुपदेश हमें सुनाया।
धिक्कार ! किन्तु हमने उसको सुना ना,
मानो ! सुना पर कभी उसको गुना ना ।।७४६।।

जो साधु आगति-अनागति कारणों को,
पीड़ा प्रमोद प्रद आस्रव-संवरों को।
औ जन्म को मरण को जिनके गुणों को,
त्रैलोक्य में स्थित अशाश्वत शाश्वतों को ।।७४७।।

औ स्वर्ग को नरक को दुःख निर्जरा को,
है जानते च्यवन को उपपादता को।
श्रीमोक्ष-पंथ प्रतिपादन कार्य में है,
वे योग्य, वंदन त्रिकाल करूं उन्हें मैं ।।७४८।।

वाणी सुभाषित सुधा, शुचि 'वीर की' है,
थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है।
क्यों मृत्यु से फिर डरूं, तज सर्वग्रन्थि,
मैं हो गया जब प्रभो शिवपंथ-पंथी ।।७४९।।

वीर स्तवन

सम्यक्त्व-बोध व्रत पावन-शील न्यारे,
मेरे रहें शरण संयम शील सारे।
लूं वीर की शरण भी मम प्राण प्यारे,
नौका समान भव-पार मुझे उतारे ।।७५०।।

निर्ग्रन्थ है अभय धीर अनन्त ज्ञानी,
आत्मस्थ है अमल है कर आयु-हानि।
मूलोत्तरादिगुण धारक विश्वदर्शी,
विद्वान् 'वीर' जग में जगचित्त हर्षी ।।७५१।।

सर्वज्ञ हैं अनियताचरणावलम्बी,
पाया भवाम्बुनिधि का तट स्वावलम्बी।
है अग्नि से निशि नशा, स्वपर-प्रकाशी,
है वीर धीर रवितेज अनन्तदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता बरगजों हरि ज्यों मृगों में,
गंगा नदी, गरुड़ श्रेष्ठ विहंगमों में।
निर्वाणवादि मनुजों, मुनि साधुओं में,
त्यों 'ज्ञातृपुत्र' वर 'वीर' मुमक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यों श्रेष्ठ सत्य वचनों वच कर्णप्रीय,
दानों रहा 'अभयदान' समर्च्यनीय।
है ब्रह्मचर्य तप उत्तम सत्तपों में,
त्यों 'ज्ञातृपुत्र' श्रमणेश धरातलों में ॥७५४॥

हे जन्मते कब कहां जग जीव सारे,
जानो जगद्गुरु! तुम्हीं जगदीश प्यारे।
धाता पितामह चराचर मोदकारी,
हो लोकबन्धु भगवन् जय हो तुम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी!
तीर्थेश अन्तिम रहें जयवन्त स्वामी!
विज्ञान-स्रोत जयवन्त रहें महात्मा,
वे 'वीर देव' जयवन्त रहें महात्मा ॥७५६॥

दोहा

मेटे वाद विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद।
सब वादों को खुश करें पुनि-पुनि कर संवाद॥

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

भूल क्षम्य हो

गुरु-स्मृति-स्तुति

वसन्ततिलका छन्द

मैं आपकी सदुपदेश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैन गीता।
दो ज्ञान सागर गुरो मुझको सुविद्या,
'विद्यादिसागर' बनूं तजदूं अविद्या ॥१॥

मंगल कामना

दोहा

लेखक, कवि मैं हूं नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान,
त्रुटियां होवें यदि यहां शोध पढ़ें धीमान ॥२॥
यही प्रार्थना 'वीर' से अनुनय से कर जोर,
हरी भरी दिखती रहे धरती चारों ओर ॥३॥
मरहम पट्टी बांध के वृण का कर उपचार,
ऐसा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ॥४॥
फूल बिछाकर पन्थ में पर प्रति बन अनुकूल,
शूल बिछाकर भूल से मत बन तू प्रतिकूल ॥५॥
तजो रजोगुण, साम्यको सजो, भजो निज धर्म,
शम मिले भव दुःख मिटे, आशु मिटे बसु कर्म ॥६॥

स्थान एवं समय परिचय

श्रीधर के बलि शिव गये-कुण्डलगिरि से हर्ष,
धारा वर्षा योग उन-चरणन में इस वर्ष ॥७॥
'बड़े बाबा' बड़ी कृपा, की मुझ पे आदीश,
पूर्ण हुई मम कामना पाकर जिन-आशीश ॥८॥
संग गगनगतिगंध की भादुपदी सिततीज,
पूर्ण हुवा यह ग्रन्थ है मुक्ति मुक्ति का बीज ॥९॥

* * *